पुराण-रहस्य

□ सुरजनदास स्वामी

पुराण-रहस्य

लेखक

सुरजनदास स्वामी

भूतपूर्व अध्यक्ष संस्कृत विभाग

जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

राजस्थान पत्रिका प्राइवेट लिमिटेड
संशोधित मूल्य
... ५०/- ...
जयपुर (राज०)

प्रकाशक

कर्पूरचन्द कुलिश

जयपुर

प्रथमावृत्ति २०४४ वि.

मूल्य ५०

पुराण-रहस्य

सर्वाधिकार लेखकाधीन

लेखक : सुरजनदास स्वामी

प्रकाशक : कर्पूरचन्द कुलिश

प्रथमावृत्ति : सम्वत् २०४४ वि.

मुद्रक : सतीश चन्द्र शुक्ल,
वैदिक यंत्रालय, अजमेर

प्रकाशकीय

वेदवाचस्पति पं. मधुसूदन ओझा ने भारतीय पुराणों को "आर्य सर्वस्व" की संज्ञा दी है और कहा है कि पुराण वेदशास्त्र की कुंजी है। उन्होंने जहाँ वेदविज्ञान पर २०० से अधिक ग्रन्थों की रचना की और पुराणों पर भी ग्रन्थ लिखे। पुराण क्या है, उनका मर्म क्या है, पुराण हमारे इतिहास के ही अंग हैं और संहिता में निरूपित विज्ञान का आख्यानों के माध्यम से स्पष्टीकरण करते हैं।

पूज्यवर ओझाजी के ही ग्रन्थों के आधार पर उनके निष्ठावान् शिष्य स्वामी सुरजनदासजी ने पुराणरहस्य नामक प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। राजस्थान पत्रिका ने जब ओझाजी महाराज और मोतीलालजी महाराज के ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य हाथ में लिया तो स्वामीजी इतने प्रसन्न हुए कि न केवल उन्होंने शतपथ ब्राह्मण का अनुवाद करना शुरू कर दिया अपितु वे फुटकर लेख भी लिखने लगे। इसी प्रसंग में एक बार उन्होंने पुराणरहस्य की चर्चा की तो मैंने उन्हें निवेदन किया कि इसका प्रकाशन कर दिया जाय। स्वामीजी ने तुरन्त ही पाण्डुलिपि प्रेस में दे दी। परिणामतः पुस्तक के रूप में आज वह प्रस्तुत है।

"पुराणरहस्य" में क्या रहस्य है, यह पढ़कर ही जाना जा सकता है। मैं तो इसे पढ़कर इतना ही निवेदन कर सकता हूँ कि इस लघ ग्रन्थ से पुराणों के प्रति हमारी जो भी धारणायें कालक्रम से बन गई हैं, वे अवश्य ही परिष्कृत हो जायेंगी और एक नई दृष्टि प्राप्त होगी। इस ग्रन्थ से श्रद्धालुजन तो लाभान्वित होंगे ही अन्य भी जो लोग पुराणों को कपोल-कल्पना मानते हैं, अपना दृष्टिकोण बदलने को बाध्य होंगे। पुस्तक प्रकाशित करते हुए मुझे परम प्रसन्नता है। स्वामीजी का मैं आभारी हूँ कि उन्होंने प्रकाशन का प्रस्ताव स्वयं प्रस्तुत किया।

—क. च. कुलिश

प्राक्कथन

पुराणरहस्य नामक लघु पुस्तिका में पुराण सम्बन्धी कतिपय वैज्ञानिक रहस्यों का, पुराणों में प्रतिपादित ८ प्रकार के आख्यानों में से असदाख्यानरूपी कल्पित आख्यानों का प्रयोजन तथा उनमें प्रतिपादित कतिपय वैज्ञानिक तथ्यों का उद्घाटन किया गया है। इसमें पुराणशास्त्र की संहिताकाल से भी प्राचीनता का, तथा पुराण-संहिता के वैदिक कल्प, वेदव्यासीय कल्प, लोमहर्षणीय कल्प एवं औग्रश्रवस भेद से चार कल्पों का निरूपण किया है। वेदव्यासीय द्वितीय कल्प में अवान्तर विभाग प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ काण्ड का प्रतिपादन किया है। पुराणशास्त्र में १८ प्रकार की आत्माओं का भी संक्षिप्त निरूपण है इस तथ्य का भी यहाँ कथन किया गया है। गीता, पुराण व महाभारत की ज्ञान-विज्ञानशास्त्रता, ज्ञानशास्त्र की तरह विज्ञानशास्त्र की आत्मशास्त्रता तथा पुराण वेदार्थज्ञान का उपाय है इन बातों का भी इस में उल्लेख है! १८ पुराणों में से आदि के ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, वायुपुराण, भागवतपुराण व नारदपुराण में आधिदैविक सृष्टि का, तथा इससे आगे के मर्कण्डेयपुराण, अग्निपुराण, भविष्यपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण इन चार पुराणों में आध्यात्मिक आत्मचतुष्टयमूलक शारीरिक सृष्टि का प्रतिपादन है। तदन्तर लिङ्गपुराण, वराहपुराण, स्कन्दपुराण, वामनपुराण, कूर्मपुराण व मत्स्यपुराण इन ६ पुराणों में सृष्टि-विषयक अवान्तर मतों का अर्थात् सृष्टि के अवान्तर कारणों का प्रतिपादन है। इस प्रकार सृष्टि का निरूपण करने के बाद गरुड-पुराण में प्रतिसृष्टि का निरूपण किया गया है तथा अन्तिम ब्रह्माण्ड-पुराण में सृष्टि व प्रतिसृष्टि के आयतन का प्रतिपादन है।

गरुडपुराण में गरुड, गरुत्मान् या सुपर्ण क्या वस्तु है? इसका भी समीचीन विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार सृष्टि, प्रतिसृष्टि व उनके आयतन का निरूपण करने वाला पुराणशास्त्र ६, ४, ६, १, १ भेद से पञ्चधा विभक्त है किन्तु आयतन विभाग को प्रतिसृष्टि विभाग के अन्तर्गत मान कर पुराणविद्या चतुर्धा ही विभक्त है। यह विद्या अति प्राचीन थी। संहिता काल से भी पूर्व विद्यमान थी। इसीलिए इस विद्या को पुराणविद्या तथा पुराणशास्त्र से व्यपदिष्ट किया गया है।

यद्यपि भगवान् वेदव्यास ने सृष्टि, प्रतिसृष्टि व उनके आयतन के निरूपक १८ पर्वों में विभक्त एक ही पुराणसंहिता का निर्माण किया था। इसके बाद उनके शिष्य लोमहर्षण तथा उनके शिष्य शांशपायन, सावर्णि तथा कश्यप ने एक-एक ही पुराणसंहिता का निर्माण किया था जिन पुराणसंहिताओं में वेदव्यास द्वारा प्रतिपादित विषयों से अतिरिक्त विषयों का भी संनिवेश किया था। किन्तु बाद में लोमहर्षण तथा उग्रश्रवा ने शौनकादि ऋषियों को जब पुराणसंहिता का श्रवण कराया तब शौनक के प्रश्न तथा लोमहर्षण व उग्रश्रवा के समाधान के द्वारा उसका कलेवर बढ़ा और १८ पर्व १८ पुराण ग्रन्थों के रूप में परिणत हो गये।

इसमें १८ पुराणों के निरूपण के अनन्तर इन पुराणों में प्रतिपाद्य विषयों का वैज्ञानिक स्वरूप भी बतलाया गया है। अर्थात् वामन, वराह, स्कन्द (कुमाराग्नि) मत्स्य आदि के वैज्ञानिक स्वरूप का ब्राह्मण श्रुतियों के आधार पर किया गया है जो कि सर्वथा नवीन वस्तु है। शिवपुराण, बृहन्नारदपुराण आदि कतिपय पुराणों के द्वारा पुराणों की संख्या १८ से अधिक हो गई है, इसका समाधान भी इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है। पुराणों के पांच लक्षणों का तथा उन लक्षणों में प्रत्येक लक्षण के पाञ्चविध्य का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में किया गया है। १८ पुराणों के विषयों का निरूपण करने के बाद पुराणों में ऋषियों की ६० हजार वर्ष आदि की जो आयु बतलायी गयी है उसका तात्विक समाधान भी इस पुस्तक में 'आयुदार्यविचार' नामक प्रकरण में किया गया है। पुराणों में असदाख्यानों, (कल्पित आख्यानों) का भी निरूपण है व उसको लेकर पुराणों में जो अप्रामाण्य प्रतीत हो रहा है इसका समाधान भी इस पुस्तक में बतलाया गया है। वसिष्ठादि ऋषियों के मैत्रावरुणि, उर्वशीपुत्र आदि के कथन का भी रहस्य बतलाया गया है। अन्त में प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक व पुष्कर द्वीप की सत्ता कहाँ है इसका भी विवेचन इसमें प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार इस लघु पुस्तिका में पुराणों की कितनी ही बातों का रहस्य यथामति बतलाया गया है। मैं आशा करता हूँ कि यह पुस्तक पौराणिक रहस्यों के उद्घाटन द्वारा विद्वानों का मनोरंजन कर सकेगी।

इति शम्॥

अक्षय तृतीया शुक्रवार
सं. २०४४

विद्वद्विधेय
सुरजनदास स्वामी

पुराणरहस्य

यह 'पुराणरहस्य' नामक पुस्तक स्वर्गीय गुरुवर्य वेदविद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदनजी महाराज के 'पुराणोत्पत्तिप्रसङ्ग' तथा 'पुराणनिर्माणाधिकरण' नामक ग्रन्थों के आधार पर लिखी गई है। इस में १८ प्रकार की आत्माओं का, पुराणशास्त्र की संहिता काल से भी प्राचीनता का, पुराणसंहिता के वैदिककल्प, वेदव्यासीयकल्प, लोमहर्षणीयकल्प तथा औग्रश्रवसकल्प भेद से चार कल्पों का और १८ प्रकार के पुराणों में आदि के ६ पुराणों में आधिदैविक सृष्टि का, आगे के मार्कण्डेयादि चार पुराणों में सृष्टिकारणताविषयक चार मतों का, इससे आगे के लिङ्गपुराणादि ६ पुराणों में प्रजापति के अवतारभूत, सृष्टि के ६ अवान्तर कारणों का, गरुडपुराण में प्रतिसृष्टि का तथा अन्तिम ब्रह्माण्डपुराण में सृष्टि तथा प्रतिसृष्टि के आयतन का निरूपण किया गया है।

यद्यपि भगवान् वेदव्यास ने सृष्टि प्रतिसृष्टि व उनके आयतन के निरूपक १८ पर्वों में विभक्त एक ही पुराणसंहिता का निर्माण किया था। भिन्न-भिन्न १८ पुराणों के निर्माता भगवान् वेदव्यास के शिष्य लोमहर्षण तथा उनके पुत्र उग्रश्रवा हैं। उन्हीं ने नैमिषारण्य में रहने वाले सत्रयज्ञ का अनुष्ठान करने वाले शौनकादि ऋषियों को सृष्टिप्रतिपादक पुराणों का श्रवण करवाया था तभी ये विभिन्न १८ पुराण बने थे। ये पुराण सूतशौनकसंवादरूप हैं तथापि भगवान् वेदव्यास को इनका कर्त्ता इस आधार पर माना गया है कि १८ पुराणों में जिस विषय का निरूपण किया गया है उनका मूल वेदव्यासीय १८ पर्वात्मक पुराणसंहिता ही थी। अन्त में पुराणों के ५ लक्षणों का निरूपण किया गया है। इस प्रकार यह लघुग्रन्थ भी अनेक अत्युपयोगी विषयों का निरूपण करने वाला है। पुराणों के वैज्ञानिक क्रम तथा वैज्ञानिक विषयों का प्रतिपादन इसमें हुआ है।

प्राचीन युग में श्रीकृष्णद्वैपायन ने सृष्टिप्रतिपादक पुराणविद्या का आविर्भाव किया था। समयप्रभाव से अज्ञानान्धकार से आवृत उस पुराणविद्या का स्वर्गीय गुरुवर्य विद्यावाचस्पति श्रीमधु-

सूदनजी ओझा ने प्रतिसंस्कार किया जिससे कि वह पुराणविद्या प्रकाश में आ सके। स्वर्गीय श्री विद्यावाचस्पतिजी ने वेदविद्यारूपी समुद्र के अन्तस्तल का शोधन कर प्रथम विज्ञानशास्त्र का उद्धार किया। पश्चात् वेदविज्ञान के द्वारा उन्होंने विश्व-सृष्टि का ज्ञान प्राप्त कर इस आनन्दजनक पुराणशास्त्रविज्ञान का निरूपण 'पुराणोत्पत्ति-प्रसङ्ग' तथा 'पुराणानिर्माणधिकरण' नामक ग्रन्थों में किया। उसी विज्ञान का प्रतिपादन उन ग्रन्थों के आधार पर संक्षेप से इस 'पुराणरहस्य' में किया जा रहा है।

विश्वसृष्टि का इतिहास पुराण कहलाता है। यह पुराणशास्त्र विद्या, शिल्प, कला आदि अनेक अतिगम्भीर विषयों से युक्त होने के कारण महाशास्त्र है। इस पुराणशास्त्र के निम्नलिखित चार कल्प हैं—१. वैदिक कल्प, २. वेदव्यासीय कल्प, ३. लोमहर्षणीय कल्प, और ४. औग्रश्रवस कल्प।

१. वैदिक कल्प

इस कल्प में वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मणादि ग्रन्थों में एवं उससे भी पूर्व उपलब्ध सृष्टिविज्ञान का निरूपण है।

प्राचीन काल में कतिपय मन्त्रग्रन्थों तथा ब्राह्मणग्रन्थों के आविर्भाव से पूर्व या उनके समकाल में ही ब्रह्माण्डपुराण नाम का एक शास्त्र था जिसमें सृष्टि तथा प्रतिसृष्टि (प्रलय) का निरूपण था, जिसका प्रारम्भ 'इदं वा अग्रे नैव किञ्चनासीत्' इत्यादि से हुआ था। उसी को लक्ष्य करके 'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि' इस शतपथब्राह्मण श्रुति में 'पुराण' का उल्लेख है। इसमें पुरावृत्तपरम्परा का कथन तथा ब्रह्माण्डसृष्टि का विचार होने से इसको 'ब्रह्माण्डपुराण' शब्द से कहा गया था। जैसा कि मत्स्यपुराण के निम्नश्लोकों से स्पष्ट हो रहा है—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥
पुराणमेकमेवासीत् तदा कल्पान्तरेऽनघ।
त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्॥

कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृप ।
तदष्टादशधा कृत्वा भूलोकेऽस्मिन् प्रकाश्यते ।।

पुराण पुरावृत्तपरम्परा का निरूपण करता है, इसीलिए इसे पुराण शब्द से कहा गया है। इसका भी उल्लेख 'पुरा परम्परां वक्ति पुराणं तेन वै स्मृतम्' इस पद्मपुराण के वचन में किया गया है।

बृहन्नारदीयपुराण में भी—पहिले ब्रह्माण्डपुराण नामक एक पुराण चार लाख श्लोकों का था। उसी को व्यासमुनि ने १८ पुराणों में विभक्त कर दिया तथा व्यास ने मेरे से पुराण सुन कर ही १८ पुराणों का निर्माण किया।[1] ऐसा उल्लेख मिलता है।

इससे यह स्पष्ट है कि ब्रह्माण्डपुराण नामक आदिम पुराण-ग्रन्थ से ही महर्षियों ने मन्त्रार्थ के उपयोगी आधिदैविक, आध्यात्मिक व आधिभौतिक आख्यानों का ब्राह्मणग्रन्थों में कथन किया है। इसी अभिप्राय से—

'सोमो वै राजाऽमुष्मिल्लोक आसीत्, तं देवाश्च ऋषयश्चाभ्यध्यायन्, कथमयमस्मात् सोमो राजाऽऽगच्छेदिति। तेऽब्रुवन् छन्दांसि यूयं न इमं सोमं राजानमाहरतेति। तथेति ते सुपर्णा भूत्वोदपतन्। ते यत् सुपर्णा भूत्वोदपतन्, तदेतत् सौपर्णमिति आख्यानविद आचक्षते।' इति

अर्थात् सोमराजा तृतीय द्युलोक (परमेष्ठिलोक) में था। जैसा कि 'तृतीयस्यां वा दिवि इतः सोम आसीत्' इस तैत्तिरीय श्रुति से सिद्ध हो रहा है। ऋषियों और देवताओं ने विचार किया कि यह सोम हमें प्राप्त हो जाय। उन्होंने गायत्री आदि छन्दों से कहा कि आप हमें इस सोम को ला देवें। वे छन्द सुपर्णरूप धारण कर उड़े। यही सौपर्णाख्यान है, ऐसा आख्यानवेत्ता कहते हैं। इस रूप से ऐतरेय ब्राह्मणादि ग्रन्थों में ऐतरेयादि ऋषियों ने पूर्वसिद्ध आख्यानों का ही कथन किया है। जैसा कि 'इति आख्यानविद

---

१. ब्रह्माण्डं च चतुर्लक्षं पुराणत्वेन पठ्यते।
तदेव व्यस्य गदितमत्राष्टादशधा पृथक् ।।१।।
पाराशर्येण मुनिना सर्वेषामपि मानद।
वस्तु दृष्ट्वाथ तेनैव मुनीनां भावितात्मनाम् ।।२।।
मत्तः श्रुत्वा पुराणानि लोकेभ्यः प्रचकाशिरे ।। इति ।।

आचक्षते' इस वचन से प्रतीत हो रहा है। अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थों में उद्धृत आख्यानों के निर्माता ब्राह्मणकार ऋषि नहीं हैं किन्तु वे पूर्व-सिद्ध आख्यानों का ही मन्त्रार्थ की प्रतिपत्ति के लिए कथन करते हैं। क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों के निर्माता ऋषि मन्त्रों में बतलाये हुए अर्थ का उपपादन करने के लिए उन आख्यानों को उद्धृत करते हैं। अतः उन आख्यानों को मन्त्ररचना के उत्तरकाल का नहीं मान सकते। इसलिए यह सिद्ध है कि ब्राह्मणग्रन्थनिर्माता ऋषियों ने ब्रह्मविरचित ब्रह्माण्डपुराण से ही मन्त्रार्थोपयोगी अर्थ के उप-पादनार्थ उन आख्यानों को संकलित किया है। इसी तथ्य की पुष्टि निम्नलिखित पुराणवचन कर रहा है—

'सूतेनानुक्रमेणेदं पुराणं सम्प्रकाशितम्।
ब्राह्मणेषु पुरा यच्च ब्रह्मणोक्तं सविस्तरम्॥
(पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड)

इन ब्राह्मणग्रन्थों में सूत्ररूप से सब विद्याओं का उल्लेख होने पर भी विशदरूप से तथा सजातीय वस्तुओं का एक ही स्थान में क्रम-बद्धरूप से पृथक् पृथक् उल्लेख न होने से उनकी स्पष्ट प्रतीति नहीं हो रही थी, इस क्लेश को देखकर शिष्यों पर अनुग्रह करने के लिए विशिष्ट बुद्धिवाले महर्षियों ने उन ब्राह्मणग्रन्थों से यथाबुद्धि भिन्न भिन्न विद्याओं को अलग निकाला तथा युक्ति आदि द्वारा परिपुष्ट कर उनको प्रचारित किया। जैसे—कपिल ने सांख्यविद्या का, पतञ्जलि ने योगविद्या का, वात्स्यायन ने कामसूत्र का, मन्वादि ने धर्मसूत्र का, धन्वन्तरि, चरक आदि ने आयुर्वेदशास्त्र का, यास्क आदि ने निरुक्तशास्त्र का, इन्द्र तथा पाणिनि आदि ने व्याकरणशास्त्र का प्रवर्तन किया। इसी प्रकार वसिष्ठ के प्रपौत्र, शक्ति के पौत्र व पराशर के पुत्र तथा सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न भगवान् व्यास ने लोकोपकार के लिए सकल ब्राह्मणग्रन्थों से सभी उपाख्यानों को संकलित करके चिरकाल से प्रचलित तथा ब्राह्मणादि ग्रन्थों में उल्लिखित गाथाओं का संग्रह कर, कथाप्रसङ्ग में संगत होने वाली कल्पशुद्धियों को सम्मिलित कर, लौकिक आख्यानों का मिश्रण कर उपर्युक्त वेदरूप ब्रह्माण्डपुराण ग्रन्थ में प्रतिपादित सृष्टि व प्रलयरूप विषयों का निरूपण करने हेतु एक नवीन पुराणसंहिता का निर्माण किया। उस पुराणसंहिता में ब्राह्मणादिग्रन्थों में उल्लिखित विश्वसृष्टिविद्याओं का एकत्र

समुच्चय करने के कारण पुराणसंहिता से उसे व्यवहृत किया तथा सूतजाति के लोमहर्षणनामक अपने शिष्य को उसे पढ़ाया।

तात्पर्य यह है कि वेदव्यासीय पुराणसंहिता का मूलभूत विश्व-सृष्टिप्रतिपादक ब्रह्माण्डपुराण नामक ग्रन्थ ही वेदकल्पीय सृष्टि व प्रलय का प्रतिपादक पुराणशास्त्र है।

२. वेदव्यासीय कल्प

भगवान् बादरायण (वेदव्यास) ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा तथा कल्पशुद्धि इन चार विषयों से युक्त 'पुराणसंहिता' का निर्माण किया। इसका तात्पर्य यह है कि वेदकल्पीय पुराणप्रकरण की अपेक्षा बादरायणकृत पुराणसंहिता में उपर्युक्त आख्यानादि चार विषय अधिक थे।

स्वसत्ताकाल में होने वाला अपने द्वारा दृष्ट इतिवृत्त आख्यान कहलाता है। अपने द्वारा दृष्ट न होने पर भी अपने समय से कुछ ही पूर्वकाल में घटित अत एव श्रुत इतिवृत्त उपाख्यान कहलाता है। जिन इतिवृत्तों (इतिहासों) के वक्ता का निश्चय नहीं है किन्तु जो परम्परा से सुने जाते रहे हैं, ऐसे इतिवृत्तविषयक वचन 'गाथा' कहलाते हैं। इतिहास से सम्बन्धित धर्मशास्त्र आदि में प्रतिपादित *ज्ञातव्य व कर्तव्य (जानने योग्य व करने योग्य) धर्मशास्त्रादिग्रन्थों से पौराणिक इतिहास विभाग में अनूदित वचन कल्पशुद्धि कहलाते* हैं। वेदशास्त्र तथा पुराणशास्त्र के अवतरण आदि विषयों का भी कल्पशुद्धि में ही समावेश है। भगवान् वेदव्यास ने ही सर्वप्रथम पुराणशास्त्र के १८ विभागों का भी ज्ञान प्राप्त किया। इससे पूर्व वेदों में सृष्टिविद्या का प्रतिपादन तो था जैसा कि वैदिक कल्प में बतलाया जा चुका है किन्तु सृष्टिविभागक्रम का उपदेश उस समय नहीं किया गया था। यह कार्य वेदव्यास जी ने ही किया। यह वेदव्यासीय कल्प पुराणविद्या में द्वितीय कल्प कहलाता है।

३. लोमहर्षणीय कल्प तथा

४. औग्रश्रवस कल्प

पुराणविद्या का प्रचारक वेदव्यास का शिष्य लोमहर्षण था। उसने वेदव्यासविरचित अष्टादशप्रकरणों में विभक्त पुराणसंहिता का

अध्ययन किया और वेदव्यासरचित पुराणसंहिता के आधार पर स्वयं लोमहर्षण ने भी एक पुराणसंहिता की रचना की और उसमें वेद-व्यासविरचित पुराण के आख्यानादि चार विषयों से भिन्न सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वन्तर, वंश तथा वंश्यानुचरित—इन पांच लक्षणों का भी समावेश किया। बाद में नैमिषारण्य में पहुंचकर शौनकादि मुनियों के समाज में पुराणसंहिता का प्रचार किया। वहाँ शौनक के अनेक-विध प्रश्नों तथा लोमहर्षण व उग्रश्रवा के उत्तरों के प्रसङ्ग से क्रमभेद हो जाने के कारण षट्संवादिक्रमलक्षण अठारह ग्रन्थ पुराणों के बन गये। उनमें आठ पुराणग्रन्थ लोमहर्षण के द्वारा तथा दस उसके पुत्र उग्रश्रवा के द्वारा सम्पादित हैं। ये षट्संवादिक्रम से निष्पन्न सूत तथा शौनक के संवाद वाले भिन्न भिन्न अठारह पुराणग्रन्थ आज उपलब्ध हैं। इन्हीं षट्संवादिक्रमसिद्ध सूतशौनक-संवादात्मक पुराणग्रन्थों का अधिक प्रचार हो जाने से प्रथम वेद-व्यासविरचित तथा द्वितीय लोमहर्षणविरचित पुराणसंहिता विलुप्त हो गयी—ऐसा अनुमान है। प्रचलित पुराणग्रन्थों में प्रश्नोत्तरक्रम के अनुरोध से वास्तविक सृष्टिक्रम में कहीं-कहीं विपर्यय हो गया है, इसलिए आज सृष्टिविद्या का समीचीन प्रकरणबद्ध स्वरूप नहीं मिलता। वेदप्रतिपादित सृष्टिविद्या की सहायता से सृष्टिप्रकरण के सामञ्जस्य के लिए स्वर्गीय गुरुवर्य विद्यावाचस्पतिजी ने समझा कि ऐसा प्रयास करना चाहिए जिससे सृष्टिप्रकरण में सामञ्जस्य बन सके।

गीता, पुराण तथा महाभारत की ज्ञान-विज्ञानशास्त्रता

योगी वासुदेवकृष्ण तथा द्वैपायनकृष्ण ने लोक को विज्ञानसहित ज्ञान की शिक्षा दी। उनमें आत्म-विषयक ज्ञान ज्ञान कहलाता है और विश्वविषयक ज्ञान विज्ञान कहलाता है। विश्व में सर्वत्र एक आत्मा व्याप्त है, यह ज्ञान है तथा एक आत्मा में यह सकल विश्व स्थित है—यह विज्ञान है। भगवान् वासुदेव ने अव्यय आत्मा का प्रतिपादन किया है जो कि अव्यय आत्मा विश्व-सृष्टि का कारण नहीं है, और जो स्वस्वरूप से अविभक्त होते हुए भी विभक्त वस्तुओं में विभक्त की तरह स्थित है। भगवान् कृष्ण के द्वारा कथित यह अव्ययात्मा का विज्ञान ही गीताशास्त्र कहलाता है। स्मार्त उपनिषदों के समुदाय को गीता कहते हैं। कृष्णद्वैपायन ने

सृष्टि के कारण अक्षरात्मा का प्रतिपादन किया है। क्षरात्ममिश्रित अक्षरात्मा ने ही इस सृष्टि को सर्वप्रथम उत्पन्न किया। क्षर, अक्षर, अव्यय ये तीनों मिलकर एक ही आत्मा हैं। तीनों पुरुषों के मिश्रण से बना हुआ एक पुरुष ही सर्व (सब कुछ) है—यह सिद्धान्त है। चतुरध्यायात्मक शारीरक ब्रह्मसूत्र में सोलह पाद बतलाये गये हैं। ये सोलह पाद—जीवात्मा षोडशकल है—इस तथ्य का प्रतिपादन कर रहे हैं। इनमें अव्ययात्मा—आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् भेद से पञ्चकल है। अक्षरात्मा—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम भेद से पञ्चकल है। क्षरात्मा—प्राण, आपः, वाक्, अन्न और अन्नाद भेद से पञ्चकल है। इस प्रकार अव्यय-अक्षर-क्षर-समष्टिरूप पुरुष की पन्द्रह कलाएँ हो जाती हैं और सोलहवीं कला परात्पर है। यही जीवात्मा की सोलह कलाएँ हैं। इसलिए श्रुति में पुरुष को 'षोडशकलः पुरुषः' इस रूप से षोडशकल बतलाया है। यह श्रुति शुक्ल यजुर्वेद के ग्यारहवें काण्ड में है। वेदव्यास द्वारा कथित विज्ञान—पुराण, ब्रह्ममीमांसा तथा महाभारत भेद से त्रिधाभूत है अर्थात् तीन भागों में विभक्त है। उन्होंने पुराणों के द्वारा सृष्टि का विज्ञान, ब्रह्ममीमांसा के द्वारा आत्मा का ज्ञान तथा इतिहास के द्वारा नीति और धर्म का विज्ञान बतलाया है। इतिहास विभाग में 'जय' नामक महाभारत आता है। उसमें लौकिकधर्म तथा नीति का निरूपण किया गया है।

तात्पर्य यह है कि—१. भगवान् कृष्ण ने गीता में अव्ययात्मा का ज्ञान बतलाया।

२. कृष्णद्वैपायन ने ब्रह्मसूत्र में अक्षरात्मा का निरूपण किया।

३. कृष्णद्वैपायन ने ही पुराणों में सृष्टि व प्रलय का विज्ञान बतलाया।

४. तथा इतिहास (महाभारत) में धर्म तथा नीति का निरूपण किया।

ज्ञानशास्त्र की तरह विज्ञानशास्त्र भी आत्मशास्त्र है—

उपर्युक्त रीति से ईश्वररूप वासुदेवकृष्ण तथा द्वैपायनकृष्ण ने प्राचीन समय में ज्ञान-विज्ञान शास्त्र का एक साथ ही लोक में प्रचार किया। गीता के द्वारा अव्ययात्मा के ज्ञान का, ब्रह्मसूत्रों के द्वारा आत्मकर्म का अर्थात् अक्षरात्मा के ज्ञान का, पुराणों के द्वारा सृष्टि-

प्रतिसृष्टिरूप आत्मधर्मों का तथा इतिहास के द्वारा धर्म तथा नीति का प्रतिपादन किया। आचार्य के भेद से तथा वक्तव्यांश व आत्मांश के भेद से इनके चार भेद हो जाने पर भी यह एक ही आत्मविज्ञान है। इतिहास, पुराण, ब्रह्ममीमांसा गीता, दर्शन, वेदान्त, ब्राह्मण, तथा संहिता—ये सब विज्ञान शास्त्र हैं और ये सब विज्ञानशास्त्र आत्मशास्त्र हैं क्योंकि इनमें आत्मसम्बन्धी विषयों का ही पृथक्-पृथक् रूप से निरूपण किया गया है।

पुराणशास्त्र वेदार्थज्ञान का उपाय है—

इतिहास और पुराण कालभेद से विभिन्न हो जाते हैं किन्तु अज्ञान के कारण या धृष्टता से उन इतिहास और पुराणों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। सत्यवती के पुत्र भगवान् वेदव्यास ने अठारह पुराणों की अर्थात् अष्टादशप्रकरण वाली पुराणसंहिता की रचना के बाद वेदार्थों का निरूपण करने वाले महाभारत रूप इतिहास की रचना की। जो पुराण के द्वारा सम्यक् प्रकार से खगोल, भूगोल तथा महाभारत के द्वारा इतिहास को जानता है, वही वेदार्थ को जान सकता है। भगवान् वेदव्यास ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धि से युक्त पुराणसंहिता की रचना की। जो व्याकरणादि षडङ्गों सहित तथा उपनिषत् (उपपत्तिज्ञान) सहित चारों वेदों का अध्ययन कर चुका है किन्तु जो पुराण को नहीं जानता, उसकी वेद में गति नहीं हो सकती अर्थात् वह वेदार्थ को नहीं जान सकता। जिस गूढ विज्ञान का वेदों तथा स्मृतियों के द्वारा भी ज्ञान नहीं होता वह गूढविज्ञान पुराणों के द्वारा जाना जाता है। वेद में जिस ज्ञान का प्रतिपादन हुआ है, उसका पुराण में चरित्रों के द्वारा कथन किया गया है। उसको वेददृष्टि ही समझनी चाहिए क्योंकि पुराण सर्वतोमुख है। इतिहास और पुराण के द्वारा वेदज्ञान को सुदृढ़ बनाया गया है क्योंकि इतिहास और पुराण में वेदविज्ञान चरित्रों के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। जो पुराणों के रहस्य को नहीं जानता, उसको वेदार्थ का प्रकाश भी नहीं होता। अल्पश्रुत से यह वेद डरता है कि यह मुझ पर प्रहार करेगा।

अतः पुराणविद्या का अध्ययन वेदार्थज्ञान के लिए आवश्यक है। वह हेय तथा अनुपादेय नहीं है। पुराणशास्त्र की अष्टादशविधता

आत्मविज्ञान की अष्टादशविधता पर आश्रित है। जिसका आगे प्रतिपादन किया जा रहा है।

सकल संसार सत्यप्रजापतिरूप है। वह तीन भागों में विभक्त है—आत्मा, प्राण तथा पशु। इन तीनों की समष्टि ही एक प्रजापति कहलाता है। आत्मा अचिन्त्य होते हुए भी प्राणरूप से सत्य है और वह सत्य प्राणरूप प्रजापति अग्नि ही है। तत्त्वदर्शी ऋषियों ने इसको अनेक प्रकार से बतलाया है। यह आत्मा अचिन्त्य, प्राण, अग्नि, महान् इत्यादिरूप से जहाँ तहाँ अनेक रूपों में बतलाया गया है। जो केन्द्र में निगूढ आत्मा है, वह निर्धर्मक है अर्थात् सब धर्मों से अतीत है। वह न वाणी तथा न मन का विषय है, वह अनिर्वाच्य है। क्योंकि उसका निर्वचन नहीं हो सकता। किन्तु वही आत्मा सर्वधर्मोपपन्न होने पर सर्व कहलाता है। उसमें सत् तथा असत् का समन्वय होता है, अतः उसे सत्य कहते हैं। 'कं' ब्रह्म सद्रूप है। यह वायु है, पूर्ण है तथा स्थान का अवरोधक है। 'खं' ब्रह्म असत् है, आकाशरूप है, शून्य है तथा सत् के द्वारा उसकी पूर्ति होती है। आकाशरूप असद् सत् वायु के द्वारा परिपूर्ण है। यही असत् की सत् से परिपूर्णता है। इस प्रकार सर्वब्रह्म में सद्-असद् का योग होने पर भी सत्ता के एक होने से उसकी अद्वैतता में कोई बाधा नहीं आती। इसलिए उसे सत्य ही कहते हैं। जो 'सत्' है वह अस्ति रूप है और उसमें 'त्य' असद्रूप है। इन दोनों के (सत् और त्य के) योग से सत्य बनता है। यह असत् विश्व सत्यरूप आत्मा में स्थित है। इनमें असद् ब्रह्म को बल कहते हैं तथा सद्ब्रह्म को रस। बल में रस का समावेश होने पर रस के प्रवेश से बल के परिपूर्ण हो जाने पर रस बलयुक्त बन जाता है। बलयुक्त रस को ही सत्य कहते हैं। सत्यस्वरूप आत्मा मन, प्राण, वाक् इन तीन तन्त्रों का निरन्तर सम्प्रयोग करता रहता है। सर्वतोमुख यह सत्यात्मा मनोमय, प्राणमय, वाङ्मय है, चूंकि यह आत्मा मनःप्राणवाङ्मय है, इसलिए यह काम, तप व श्रम के द्वारा क्रमशः इच्छा, क्रिया व अर्थों का सम्पादन करता है। काम से इच्छा, तप से क्रिया और श्रम से अर्थ। ज्ञान से इच्छा उत्पन्न होती है, इच्छा से संकल्प, संकल्प से क्रिया और क्रिया द्वारा अर्थ की निष्पत्ति होती है। घट को चाहने वाला आत्मा घट के उपादानकारणभूत

मिट्टी पर वाग्व्यापाररूप श्रम करता है और प्राणों द्वारा उस पर बल का प्रयोग करता है। इस प्रकार बलबन्धनरूप घट की उत्पत्ति करता है। वह घट के उपादानकारण मिट्टीरूप सद् में इच्छा, तप तथा श्रम के द्वारा असद्रूप बल का बन्धन कर घटरूप अर्थ को उत्पन्न करने में समर्थ होता है। विश्वसृष्टि में—काम, तप और श्रम—ये कार्यमात्र के साधारण कारण हैं, इस तथ्य को भगवती श्रुति भी बतला रही है—

"कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥"

सत्यप्रजापतिरूप आत्मा सोलह कला वाला है। इनमें मध्य के चार प्राण चार कलाएं हैं, जिन्हें आत्मा कहा जाता है। दो प्राण अर्क है। इन्हें पक्षप्राण कहा जाता हैं, जो कि आत्मा में वीर्याधान करते हैं। और दश कलाएं पशुप्राण है, जिसमें दो अर्वाक् प्राण हैं जो कि मलमूत्रनिर्गमस्थान हैं। सात शीर्षण्य प्राण हैं, इन्हें साकञ्जप्राण कहा जाता है और दसवां प्राण नाभि है, वही पुच्छप्राण है जो कि शरीर की प्रतिष्ठा है। आत्मा के प्रतिष्ठाभूत ७ शीर्षण्य प्राण हैं, जिन्हें ब्रह्मप्राण भी कहा जाता है। इस प्रकार कण्ठ से नाभि तक मध्यशरीररूप ४ आत्मप्राण—इन प्राणों में वीर्याधायक दो पक्षरूप प्राण, एक शरीरप्रतिष्ठाभूत पुच्छप्राण तथा आत्मप्राण, पक्षप्राण व पुच्छप्राणरूप ७ प्राणों के रस से निष्पन्न आत्मप्रतिष्ठारूप सात शीर्षण्य प्राण तथा दो मलमूत्रनिर्गमस्थानरूप अर्वाक् प्राणभेद से आत्मा की १६ कलायें हैं। इस तरह आत्मा षोडशकल है तथा ईश्वर और जीव ये दो कलाएँ आत्मा की और हैं। संभूय आत्मा की ये अठारह कलाएँ हो जाती हैं। आत्मा के अष्टादशकल होने से आत्मशास्त्ररूप पुराण के भी अठारह विभाग हैं।

एक ही आत्मा १८ प्रकार का है, इस बात को बतलाने के लिए कृष्णद्वैपायन वेदव्यासजी ने तथा भगवान् वासुदेव कृष्ण ने आत्मा का निरूपण करते हुए अष्टादशभेदभिन्न आत्मशास्त्र का निर्माण किया। इसीलिए पुराणशास्त्र, महाभारत तथा गीता तीनों ग्रन्थ १८ विभाग वाले हैं। महाभारत में १८ पर्वरूप विभाग हैं। पुराणशास्त्र में १८ प्रकरणरूप विभाग हैं। और भगवद्गीता

में १८ अध्यायरूप विभाग हैं। क्योंकि आत्मा १८ भेदवाला है, १८ प्रकार का है। इसीलिए १८ प्रकार के आत्मा के प्रतिपादक, पुराण, महाभारत तथा गीताशास्त्र भी १८ विभागवाले हैं।

यद्यपि दिग्देशकाल से अनवच्छिन्न असीम आत्मा एक ही है। तथापि विश्व में स्थित या विश्व में प्रविष्ट आत्मा की ३ परिस्थितियाँ बन जाती हैं। और वे तीनों प्रकार की परिस्थितियाँ १८ निकायवाली हैं। अतः निकायभेद से एक ही असीम अपरिच्छिन्न आत्मा के विश्वप्रविष्ट होने पर १८ भेद हो जाते हैं। उन्हीं निकायभेदों का तथा उनके भेद से १८ आत्मभेदों का संक्षेप से निरूपण किया जा रहा है—

१८ निकायों के भेद से आत्मा के १८ भेदों का निरूपण

जीव व ईश्वर भेद से आत्मा दो प्रकार का है। ईश्वर असीम व जीव ससीम है। इसी ईश्वर व जीव का स्वरूपविवेचन भगवद्गीता, ब्रह्ममीमांसासूत्र, पुराणशास्त्र तथा इतिहास के द्वारा किया गया है। क्योंकि स्वरूपतः एक होते हुए भी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों की अपेक्षा से इस आत्मा के आयतन १८ प्रकार के हैं। और आत्मायतन से अवच्छिन्न आत्मा भी चूंकि १८ प्रकार का हो जाता है, इसलिये इस आत्मतत्व के निरूपण करने वाले सभी शास्त्र प्रायः १८ भागों में विभक्त हैं, एवं इतिहासरूप महाभारत भी १८ पर्वों में विभक्त है। केवल ब्रह्ममीमांसाशास्त्र १६ पादों में विभक्त है। इसका कारण आगे प्रदर्शित किया जायगा।

भिन्न-भिन्न परिस्थितिमूलक आत्मायतन १८ किस प्रकार से है? और कौन से हैं? इसी विषय का सर्वप्रथम संक्षेप से निरूपण किया जाता है।

प्रजापतिरूप आत्मा से देवता और भूत यह दो प्रकार की सृष्टि होती है। इस प्रकार दो प्रकार की सृष्टि को तथा एक मूल उपादान ब्रह्म जिससे यह द्विविध सृष्टि होती है, मिला कर आत्मा—१ ब्रह्म २ देव ३ भूत इस तरह ३ प्रकार का हो जाता है—क्षेत्रज्ञ, अन्तरात्मा व भूतात्मा। इनमें क्षेत्रज्ञ ही अन्तरतमात्मा कहलाता है। क्योंकि वह सबकी अपेक्षा अन्दर है और भूतात्मा बाह्यात्मा कहलाता है क्योंकि वह सर्वापेक्षया बहिर्भूत है। त्रिविध परिस्थिति-

मूलक इन्हीं तीनों आत्माओं का निरूपण भगवान् मनु ने निम्न प्रकार से किया है—

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।।
यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ।।
जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।।
येन वेद्यते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ।
तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च ।।
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ।।

मनु. अ. १२।१२।१४

इनमें प्रवर्तक विशुद्ध सौर आत्मा क्षेत्रज्ञ कहलाता है। कर्म करने वाला आत्मा भूतात्मा (बाह्यात्मा) तथा सुख-दुःखवेदयिता चान्द्र महानात्मा जीव व अन्तरात्मा कहलाता है। इस तरह त्रिविध परिस्थितियों की अपेक्षा से आत्मा के उपर्युक्त तीन भेद होते हैं। किन्तु उपर्युक्त ब्रह्मादि परिस्थितियों के भेद से त्रिधा विभक्त आत्मा के फिर निकाय (आयतन) भेद से अनेक भेद हो जाते हैं। जैसे ब्रह्म-परिस्थितिमूलक क्षेत्रज्ञ आत्मा ही आयतन भेद से चार प्रकार का बन जाता है। परात्पर १ अव्यय २ अक्षर ३ व क्षर ४। इनमें शुद्ध रसबलघन, अनन्त, विश्व का अधिष्ठान, भूमा व विश्वातीत आत्मा परात्पर कहलाता है और मायाबल से सीमित होकर पुरवासी होने से जो पुरुष कहलाता है यह आत्मा अव्यय, अक्षर व क्षर भेद से ३ प्रकार का है। एक होते हुए भी ३ भावों को लेकर जो कि सृष्टि के लिये आवश्यक है यह पुरुष त्रिधा विभक्त हो जाता है। अव्यय सृष्टि का आलम्बन व आधार है। अक्षर निमित्त कारण है तथा क्षर परिणामी उपादान-कारण है। सृष्टि में इन तीनों भावों की आवश्यकता होती है। वस्तु के निर्माण करने के लिए आधार अधिष्ठान की आवश्यकता होती है तथा उसके निर्माण करने वाले चेतन कारण की और उस वस्तु के घटक उपादान कारण की। इस तरह त्रिभावापन्न यह चैतन्य ही सृष्टि का सर्वविध कारण बनता है। इसलिये वेदान्त सिद्धान्त में इस त्रिभावापन्न ब्रह्म को ही सृष्टि का कारण बतलाया है। महिम्नः स्तोत्र में भी सृष्टि के लिये आवश्यक इन तीनों भावों का निम्नांकित श्लोक में निर्देश किया है। जैसे—

किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनम् ।
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च ।

तीन भावों से त्रिधा विभक्त इन तीनों पुरुषों का निरूपण भगवान् ने भी गीता में भी किया है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।

वस्तुतः यह त्रिपुरुषात्मक एक ही पुरुष है । इन तीनों पुरुषों में जैसा कि पहिले कहा जा चुका है अव्यय केवल अधिष्ठानमात्र है व साक्षी है । वह अक्षर पुरुष से अविनाभूत होने के कारण ही कर्ता कहलाता है वस्तुतः वह अकर्ता है । इसीलिये—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्माऽयमव्ययः ।।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।।
गीता १३ अध्याय

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ।।
गीता ४ अध्याय

में अव्यय को अकर्ता व निर्लिप्त बतलाया है । अक्षर सारी सृष्टि का उत्पादक निमित्त कारण, नियामक व अन्तर्यामी है । वह यद्यपि कर्ता है तथापि उसमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं होता, और क्षर पुरुष जगत् रूप में परिणत होता है । वह विकारी है । इस तरह अन्तरतमात्मा क्षेत्रज्ञ के आयतन भेद से चार भेद हो जाते हैं ।

देवपरिस्थिति से अवच्छिन्न आत्मा अन्तरात्मा व सहज आत्मा कहलाता है । और देव परिस्थिति पञ्च निकाय वाली है, अतः इससे अवच्छिन्न अन्तरात्मा भी अव्यक्त, महान्, विज्ञान, (बुद्धि) मन (प्रज्ञान) व प्राण भेद से पांच प्रकार का है । इन पांचों का अधिदैवत में विद्यमान स्वयंभू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र व पृथ्वी लोक से सम्बन्ध है । इन पांचों आधिदैविक प्रजापति के अवतारों से या लोकों से पृथक्-पृथक्, प्राण हमारे शरीर में आकर प्रतिष्ठित होते हैं जिनकी क्रमशः अव्यक्तादि उपर्युक्त संज्ञायें होती हैं । अव्यक्तात्मा ही शान्तात्मा कहलाता है । इस शान्तात्मा के द्वारा सूर्यलोक से

ऊर्ध्ववर्ती ऋषि, पितर, देव व मनुष्य प्राण, जो कि अमृतप्राण कहलाते हैं, हमारे शरीर में आते हैं । इन्हीं प्राणों का भगवान् मनु ने—

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः ।
देवेभ्यश्च जगत् सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ।।

इस पद्य में निरूपण किया है ।

महानात्मा सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों का प्रवर्तक है। विज्ञानात्मा—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य इन ४ विद्याबुद्धियों तथा अधर्म, अज्ञान, अस्मिता, अनैश्वर्य इन ४ अविद्याबुद्धियों का प्रवर्तक है । प्रज्ञानात्मा (सर्वेन्द्रिय मन) पञ्च ज्ञानेन्द्रियों तथा पञ्च कर्मेन्द्रियों का प्रवर्तक है तथा प्राणात्मा (मुख्य प्राण) प्रज्ञामात्रा, प्राणमात्रा व भूतमात्रा का प्रवर्तक माना गया है। इन पांचों देवताओं का निरूपण कठोपनिषद् के निम्न मन्त्र में किया गया है—

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ।।

ये ही पांचों देवात्मा हमारे शरीर में क्रमशः अव्यक्त, महान् बुद्धि, मन (प्रज्ञान) व इन्द्रिय संज्ञा से भी व्यवहृत होते हैं । इनका निरूपण भी कठोपनिषद् में स्पष्ट किया है । जैसे—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः ।।
महतः परमव्यक्तं अव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ।।

ये पांचों प्राण जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है हमारे शरीर में अमृतात्मा पुरुष के अवतारभूत स्वयंभू आदि लोकों से आते हैं और वे लोक परस्पर अधरोत्तर क्रम से व्यवस्थित हैं । उसी आधार पर उपर्युक्त श्रुति में पांचों प्राणों का, परस्पर श्रेष्ठत्व को लेकर, अधरोत्तर भाव से निरूपण किया है । और उसके आगे उस पुरुष की सत्ता बतलाई गई है जो कि अधिदैवत की तरह हमारे शरीर में प्रतिष्ठित है ।

३. भूतपरिस्थित्यवच्छिन्न आत्मा ५ प्रकार का है । चूंकि भूत परिस्थिति आत्मा व देव दोनों परिस्थितियों की अपेक्षा

बहिर्भूत है इसलिए भूतपरिस्थितिरूप उपाधिवाला आत्मा भी बाह्यात्मा कहलाता है। इन ५ आत्माओं में सर्वापेक्षया बहिर्भूत शरीरात्मा है। अग्निरूप प्रजापति मर्त्य अमृत भेद से दो प्रकार का है। मर्त्य को चित्याग्नि व चित्य पृथिवी कहते हैं। यह दरीदृश्यमान पृथिवी, चित्याग्नि, चित्य पृथिवी अथवा मर्त्याग्नि है। इसी चित्य मर्त्याग्नि में जब चित्य (मर्त्य) भूताग्नि की आहुति होती है तब इस शरीरात्मा की निष्पत्ति होती है। अर्थात् मर्त्य पृथिवी (अग्नि) में मर्त्य, अन्नादि व शुक्रादि की आहुति से शरीर बनता है। यह शरीर ही सर्वबहिर्भूत भूतात्मा है।

२. हंसात्मा—इसी मर्त्याग्नि (चित्यात्नि) में चित् व वायु की आहुति से वायुमय हंसात्मा की निष्पत्ति होती है। यह हंसात्मा पृथिवी से ऊपर और चन्द्रमा से नीचे दोनों के बीच यथेच्छ रूप से वायु में विचरता रहता है।

इस हंसात्मा का पृथिवी से कोई सम्पर्क नहीं रहता। यह कभी सोता नहीं है। किन्तु सोते हुए पुरुष के शरीर की रक्षा करता है। इस हंसात्मा का निरूपण श्रुति में निम्नलिखित रूप से मिलता है—

स्वप्नेन शारीरमाभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति।
शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पूरुष एकहंसः॥
प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं, बहिः कुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयते अमृतो यत्र कामं, हिरण्मयः पूरुष एकहंसः॥

अर्थात्—यह हंसात्मा जीवित दशा में भी शरीर से बाहर जाकर यथेच्छ विहार करता हुआ अपनी अभीष्ट वस्तु ग्रहण कर फिर शरीर में आ जाता है। किन्तु यह अपने शरीर से कभी भी पृथक् नहीं होता। क्योंकि शरीर से बाहर जाने पर भी वह सौम्य प्राणसूत्र द्वारा शरीर से बंधा हुआ रहता है। जैसे सूत्र से बंधा हुआ पक्षी सब जगह घूमकर फिर अपने स्थान पर आ जाता है वही गति हंसात्मा की है।

मरने के बाद इसका यह कुलाय नष्ट हो जाता है अतः वह अपना नवीन कुलाय (शरीर) निर्माण करता है। मरने के बाद भी वह कभी-कभी प्रत्यक्ष रूप में आ जाता है, और बातचीत भी करता

है। भगवान् वेदव्यास ने महाभारत युद्ध के बाद मृत पुरुषों के हंसात्मा का गान्धारी आदि को दर्शन करवाया था। यह कभी सोता नहीं है। किन्तु सुप्त शरीरात्मा की रक्षा करता है।

३. दिव्यात्मा—यह पुनः तीन प्रकार का है। १. वैश्वानर, २. तैजस व ३. प्राज्ञ।

१. वैश्वानर—भूलोक की मर्त्यानि में अमृत चैतन्य तथा द्युलोक की अग्नि की आहुति से इसका स्वरूप निष्पन्न होता है।

२. तैजस—मर्त्याग्नि वायु (आन्तरिक्ष्य) में अमृत चैतन्य की आहुति से तैजसात्मा की स्वरूपनिष्पत्ति होती है।

३. प्राज्ञ—मर्त्याग्नि इन्द्र अर्थात् द्युलोकाग्नि में अमृत चैतन्य की आहुति से प्राज्ञ का स्वरूप बनता है।

वैश्वानर, तैजस व प्राज्ञ इनमें समान रूप से अमृत चैतन्य के सम्पर्क का होने पर भी भूत-मात्राओं के न्यूनाधिकतार-तम्य से चैतन्य का समान रूप से विकास नहीं होने पाता। अतः इनमें अन्तर पड़ जाता है। वैश्वानर में भूतमात्रा के अत्यधिक सम्पर्क से चैतन्य का अतिन्यून विकास होता है अतः भूतमात्रा-प्रधान प्राणी असंज्ञ कहलाते हैं। जैसे स्थावर, लोष्ट आदि।

तैजस प्राणियों में भूतमात्रा के न्यून सम्पर्क से चैतन्य का कुछ अधिक आविर्भाव होता है। अतः वे अन्तःसंज्ञ कहलाते हैं। जैसे वृक्ष आदि।

प्राज्ञात्मविशिष्ट प्राणियों में भूतमात्रा के अति न्यून सम्पर्क से चैतन्य का अत्यधिक विकास होता है। अतः वे ससंज्ञ कहलाते हैं। जैसे मनुष्य आदि।

इनमें तृतीय प्राज्ञ आत्मा पुनः कर्मात्मा (यज्ञात्मा), चिदाभास व चिदात्मरूप से तीन प्रकार का है।

१. कर्मात्मा—प्राणों की स्थिति के लिए कर्म की आवश्यकता है। कर्म के बिना मन, श्रोत्र चक्षु आदि प्राणों की स्थिति नहीं हो सकती, इसी रहस्य का निरूपण "अकृत्स्नं वै कर्म ऋते प्राणेभ्यः। अकृत्स्ना उ वै प्राणा ऋते कर्मणः तस्मात् कर्माग्निमसृजत, आविस्तरां वा अग्निः कर्मणः" इत्यादि शतपथ-श्रुति में किया गया है। इस कर्माग्निरूप प्रजापति में पुण्य-पाप-कर्मजन्य संस्कार रहते हैं

जिनका कि भोग के बिना नाश नहीं होता। यही संस्कारमय ईश्वरजन्य जीव कर्मात्मा कहलाता है। इसी कर्मात्मा का निरूपण निम्न शतपथश्रुति में किया गया है—

'आसीदिव वा इदमग्रे नैवासीत् तद्धैतन्मन एवास। तन्मनो वाचमसृजत। सा वाक् प्राणमसृजत। स प्राणश्चक्षुरसृजत। तच्चक्षुः श्रोत्रमसृजत। तच्छ्रोत्रं कर्मासृजत। अकृत्स्नं वै कर्म ऋते प्राणेभ्यः। अकृत्स्ना उ वै प्राणाः[1] ऋते कर्मणः। तत्कर्माग्निमसृजत। आविस्तरां वा अग्निः कर्मणः। अयं वाव लोको एषोऽग्निश्चितः। तस्यापः परिश्रितः। अन्तरिक्षं ह त्वेवैषोऽग्निश्चितः। द्यावापृथिव्योः सन्धिः परिश्रितः। द्यौर्ह त्वेवैषोऽग्निश्चितः। तस्यापः परिश्रितः। आदित्यो ह त्वेवैषोऽग्निश्चितः। तस्य दिशः परिश्रितः। शत. १/४/१

अर्थात् सृष्ट्युत्पत्ति से पूर्व सदसद्रूप मन ही था। उस मन ने वाक् को उत्पन्न किया। वाक् ने प्राण को उत्पन्न किया। प्राण ने चक्षु को। चक्षु ने श्रोत्र को। श्रोत्र ने कर्म को। प्राणों के विना कर्म अकृत्स्न (अपूर्ण) है तथा कर्म के विना प्राण अकृत्स्न (अपूर्ण) हैं। कर्म ने अग्नि को उत्पन्न किया। अग्नि कर्म की अपेक्षा अधिक प्रकट-रूप है। यह पृथिवीलोक चित अग्नि ही है। जल (अर्णवसमुद्रस्थ जल) उसका परिश्रित् (घेरा) है। अन्तरिक्ष लोक भी चित अग्नि ही है। द्युलोक तथा पृथिवीलोक की सन्धि इसका परिश्रित् है। द्युलोक भी चित अग्नि ही है। उसके सूर्यलोक के ऊपर विद्यमान पार-मेष्ठ्य जल परिश्रित् हैं। आदित्य (सूर्यपिण्ड) भी यह चित अग्नि ही है। उसकी दिशायें परिश्रित् हैं।

यह अग्नि ही कर्मात्मा है। यह उत्पद्यमान कर्मात्मा अमृत, मृत्यु भेद से दो प्रकार का है। जैसा कि शतपथश्रुति बतला रही है—

प्रजापतिः प्रजा असृजत। स ऊर्ध्वेभ्य एव प्राणेभ्यो देवानसृजत। येऽवाञ्चः प्राणास्तेभ्यो मर्त्याः प्रजाः। अथोर्ध्वमेव मृत्युं प्रजाभ्योऽत्तारमसृजत (संवत्सरम्) तस्य ह प्रजापतेरर्द्धमेव मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्। तदेता अस्य ताः पञ्च मर्त्यास्तन्व आसन्—लोम, त्वक्, मांसम्, अस्थि, मज्जा। अथैता अमृताः-मनो, वाक्,

---

१. यहाँ प्राणपद से चक्षुःश्रोत्रादि का ग्रहण है।

प्राणश्चक्षुः, श्रोत्रम् । उभयं ह वै तदग्रे प्रजापतिरास-मर्त्यं चैवामृतञ्च । तस्य प्राणा एवामृता आसुः । इति शत. १०/१/४)

अर्थात् प्रजापति ने प्रजाओं को उत्पन्न किया। उसने ऊर्ध्व-प्राणों से देवताओं को उत्पन्न किया तथा अवाक् (निम्न) प्राणों से मर्त्य प्रजा को। उसने ऊर्ध्व संवत्सर को प्रजाओं के भक्षक मृत्युरूप से उत्पन्न किया। यह प्रजाभक्षक मृत्यु संवत्सर ही है। इस प्रजा-पति का आधा भाग मर्त्य तथा आधा भाग अमृत है। इस प्रजापति का मर्त्य शरीर-लोम, त्वक्, मांस, अस्थि मज्जा हैं तथा अमृत शरीर मन, प्राण, वाक्, श्रोत्र, चक्षु हैं। सृष्टि से पूर्व यह प्रजापति मर्त्य-अमृत भेद से उभयरूप था। प्राण ही उसके अमृतस्वरूप थे।

इसी पुरुषरूप अग्नि में पुण्य-पाप कर्मों से उत्पन्न होने वाले संस्कार कर्मसंज्ञक हैं और वे विना भोग के नष्ट नहीं होते।[1] वे पुरुष में सञ्चित रहते हैं। इसलिए कहा गया है कि प्रारब्ध कर्मों का भोग से ही क्षय होता है। विना भोग के वे करोड़ों कल्पों में भी नष्ट नहीं होते।[2] इस प्रकार प्रारब्ध कर्म का तो भोग से ही क्षय होता है किन्तु सञ्चित कर्मों का ज्ञान से सर्वथा नाश तथा आगामी कर्मों का असंश्लेष हो जाता है। इसलिए गीता में कहा है—

"यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।। इति ।।

अर्थात् जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि काष्ठों को भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सञ्चित तथा आगामी सभी कर्मों को नष्ट कर देती है।

उपर्युक्त कर्मों (प्रारब्ध, सञ्चित तथा भावी) के नष्ट हो जाने पर अग्निप्रजापतिरूप जीवात्मा मुक्त हो जाता है।

अर्थात् जिस प्रकार प्रतिबिम्बकारणभूत दर्पणादि उपाधि के नष्ट हो जाने पर सूर्यप्रतिबिम्ब व्यापक सूर्यज्योति में मिलकर एक हो जाता है, उसी प्रकार प्रतिबिम्बकारणभूत क्षेत्र के नष्ट हो

---

१. नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।

२. प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः ।

जाने पर ईश्वरप्रतिबिम्बरूप जीवात्मा व्यापक ईश्वर पुरुष में मिलकर एक हो जाता है, जैसा कि श्रुति बतला रही है—

"गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठां देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ।।"

अर्थात् जीव की पन्द्रह कलाएँ ईश्वर की पन्द्रह कलाओं में प्रतिष्ठित हो जाती हैं । जीव के चक्षुरादि प्राण-देवता भी ईश्वर के प्राणादि में विलीन हो जाते हैं । कर्म तथा विज्ञानमय आत्मा सभी पराव्यय अर्थात् ईश्वराव्यय में मिलकर एक हो जाते हैं । तात्पर्य यह है कि जीवाव्ययगत अमृतधर्म ईश्वराव्ययगत अमृतधर्म में विलीन हो जाते हैं । इस प्रकार यह जीवात्मा मृत्युसंज्ञक संवत्सराग्नि से उत्पन्न मृत्युधर्म के नाश होने पर जीवत्वरूप से विमुक्त होकर केवल अमृतरूप बनता हुआ नित्यामृतस्वरूप उस ईश्वर में विलीन हो जाता है ।

२. **चिदाभास**—इस जीव में सर्वत्र व्यापक ईश्वर का सम्बन्ध होता है । वह दो प्रकार का है । एक अन्तर्यामि व दूसरा बहिर्यामि । जैसे जल को द्रुत करने वाले वारुण अग्नि का जल से अन्तर्यामि सम्बन्ध है क्योंकि वह जल का स्वरूपधर्म बन गया है और जल का स्वरूप निर्माण करने के बाद तप्त जल में जो अग्नि का सम्बन्ध है वह बहिर्यामि है । वहाँ ताप केवल जल का आगन्तुक आश्रित धर्म है न कि स्वरूप धर्म । इन्हीं दोनों सम्बन्धों को क्रमशः योग और विभूति पद से गीता में व्यवहृत किया गया है । चिदात्मा ईश्वर का जो भाग शरीर में आकर हृदयप्रदेशस्थ विज्ञानात्मा से सम्पृक्त होकर ईश्वर से प्रवृक्त हो जाता है और शरीर व प्राणादि के धर्मों से संयुक्त होता है, वह चिदाभास कहलाता है । यह शरीरभेद से भिन्न हो जाता है, अतः नाना है । यही सांख्यसम्मत पुरुष है ।

३. **चिदात्मा**—चिदात्मा ईश्वर का वह भाग है जो कि सर्वव्यापक सूर्यरश्मियों की तरह सारे विश्व में व्याप्त होता हुआ शरीर में भी व्याप्त रहता है । जैसे सर्वत्र व्याप्त आकाश घट में भी रहता है किन्तु घट से उसका कोई वास्तविक सम्पर्क नहीं होता और न घट के धर्मों से वह सम्पृक्त ही होता है फिर भी वह आकाश घट से निचाय्य (ज्ञेय) होता है और वह घटाकाश शब्द से व्यवहृत होता है । उसी प्रकार ईश्वर का विश्वव्याप्त विभूतिरूप से

वर्तमान चिद्भाग शरीर में रहता हुआ भी शरीर के धर्मों से संपृक्त नहीं होता फिर भी शारीरक कहलाता है। यह सब शरीरों में समान है अतः एक है। यही इस शरीर में ईश्वर व परपुरुष कहलाता है जिसका निरूपण गीता में निम्न श्लोक में किया गया है—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ।।इति।।

इनमें भी यह अन्तिम चिदात्मा शरीर में कहीं विभूतिरूप से कहीं श्रीस्वरूप से और कहीं ऊर्क् रूप से प्रतिष्ठित है। ब्रह्म, क्षत्र, विट् (विभूति, ऊर्क्, श्री) ये तीन वीर्य मनुष्य में होते हैं। इन्हीं तीनों की प्रधानता से ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य ये भेद बने हैं। चिदात्मा के इन्हीं तीनों स्वरूपों का वर्णन गीता में—

यद् यद् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ।। इति ।। १०/४१

इस पद्य में किया गया है। इस तरह एक ही आत्मा ब्रह्मपरिस्थिति, देवपरिस्थिति व भूत-परिस्थिति के भेद से ३ प्रकार का तथा उनके अवान्तर भेदों से विभक्त होकर १८ प्रकार का हो जाता है। इनमें ब्रह्मपरिस्थिति से उपहित आत्मा जिसे क्षेत्रज्ञ कहा गया है, अमृतात्मा है एवं देवपरिस्थिति से उपहित आत्मा जिसे अन्तरात्मा शब्द से व्यवहृत किया गया है ब्रह्मात्मा है तथा भूतपरिस्थिति वाला जिसे भूतात्मा कहा गया है शुक्रियात्मा शब्द से भी व्यवहृत होता है। इन १८ आत्माओं की तालिका निम्नलिखित है—

१. अमृतात्मा (क्षेत्रज्ञ)	१. परात्पर पुरुष
	२. अव्यय
	३. अक्षर
	४. क्षर
२. ब्रह्मात्मा (अन्तरात्मा)	१. शान्तात्मा (अव्यक्तात्मा)
	२. महानात्मा
	३. विज्ञानात्मा
	४. प्रज्ञानात्मा
	५. प्राणात्मा

३. शुक्रियात्मा (भूतात्मा)	१. शरीरात्मा (भूतमय) अर्थात् (चित्याग्निमय)
	२. हंसात्मा (वायुमय)
	३. दिव्यात्मा = वैश्वानर अग्नि
	४. .....तैजस वायु
	५. .....प्राज्ञ इन्द्र = कर्मात्मा (यज्ञात्मा)
	६. .....चिदाभास
	७. .....चिदात्मा = विभूति-लक्षण
	८. ,, श्रीलक्षण
	९. ,, ऊर्क् लक्षण
	१८

इनमें भूतपरिस्थिति वाले ९ आत्माओं को प्रकारान्तर से ३ भागों में विभक्त किया जा सकता है—१. अमृतमय, २. अमृतमृत्युमय ३. मृत्युमय।

जिन में विभूतिमान्, श्रीमान् तथा ऊर्जित ये तीन आत्मा अमृतमय हैं। आत्मा के विश्वप्रविष्ट होने से इनमें भी मृत्यु का सम्पर्क है पर अत्यल्प है। अतः इन्हें अमृत भाग के प्राचुर्य से अमृतमय माना गया है।

चिदात्मा, चिदान्भास तथा यज्ञात्मा ये तीन अमृतमृत्युमय हैं। तथा दैवात्मा, हंसात्मा शरीरात्मा मृत्युभाग के प्राचुर्य से मुत्युमय कहलाते हैं।

उपर्युक्त रीति से आत्मा १८ प्रकार का हो जाता है। इसीलिये इसके निरूपण करने वाले सभी शास्त्र १८ भागों में विभक्त हैं। इसी रहस्य का निरूपण करने के लिये भगवान् वेदव्यास ने गीता, पुराण, महाभारत आदि सभी में १८ विभाग रखे हैं।

किन्तु यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब आत्मा १८ प्रकार का है और उसके प्रतिपादक ग्रन्थों में भगवान् वेदव्यास ने १८ खण्ड रखे हैं तो उसी आत्मतत्व के प्रतिपादक ब्रह्मसूत्रों में १६ पाद ही

कैसे रखे ? इसका रहस्य यही है कि यहाँ भगवान् व्यास ने जीवात्मा की षोडशकलाओं का निरूपण किया है। जैसे—जीव प्रजापति अनिरुक्त, निरुक्त भेद से दो प्रकार का है। अनिरुक्त असीम है और उसकी परात्पर संज्ञा है। और निरुक्त ससीम है, वह पुरुष कहलाता है। पुरुष—अव्यय, अक्षर, क्षर भेद से तीन प्रकार का है। इनमें तीनों पुरुष पांच पांच कला वाले हैं। अतः पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल क्षर व परात्पर इनको मिलाने से १६ कलायें हो जाती हैं। जैसे—

१	परात्पर	
२	अव्यय	१ आनन्द
		२ विज्ञान
		३ मन
		४ प्राण
		५ वाक्
३	अक्षर	१ ब्रह्मा
		२ विष्णु
		३ इन्द्र
		४ अग्नि
		५ सोम
४	क्षर	१ प्राण
		२ आपः
		३ वाक्
		४ अन्न
		५ अन्नाद

यही षोडशी पुरुष भी कहलाता है। इसी षोडशी पुरुष का निरूपण ब्रह्ममीमांसाशास्त्र में किया गया है। अतः इसमें षोडशपाद-रूप १६ प्रकरण ही हैं।

उपर्युक्त वैदिककल्प, वेदव्यासीय कल्प, लोमहर्षणीय कल्प तथा औग्रश्रवस कल्प, इन चारों कल्पों में वेदव्यासीय कल्प काण्ड-चतुष्टयात्मक है। अतः उन चारों काण्डों का निरूपण आगे क्रमशः किया जायगा :—

काण्डचतुष्टयात्मक वेदव्यासीय-कल्प-नामक द्वितीयकल्प

द्वापर युग में कृष्णद्वैपायनापरपर्याय वेदव्यास ने वेदों का पांच संहिताओं में विभाग कर उसका प्रचार किया। वे पांच संहिताएँ—(१) ऋक्संहिता, (२) यजुःसंहिता, (३) सामसंहिता, (४) अथर्वसंहिता और (५) पुराणसंहिता हैं। एक ही वेदग्रन्थ के विषयविभाग करने की इच्छा से वेदव्यास ने बहुत पहिले प्रादुर्भूत पद्यमय मन्त्रों का संग्रह कर ऋक्संहिता का, गद्यमय मन्त्रों का संग्रह कर यजुःसंहिता का तथा गेय मन्त्रों का संग्रह कर सामसंहिता का निर्माण किया। अथवा एक ही वेदरूप महाग्रन्थ के अध्ययन अध्यापनादि में अत्यन्त श्रम तथा दुष्करता का विचार कर भगवान् वेदव्यास ने सरलता से यज्ञानुष्ठान के लिए होता के द्वारा पठनीय मन्त्रों का, अध्वर्यु के द्वारा पठनीय मन्त्रों का और उद्गाता के द्वारा पठनीय मन्त्रों का पृथक्-पृथक् संग्रह कर क्रमशः ऋक्संहितादि तीन संहिताएँ बनायीं।

यज्ञ पाकयज्ञ और वितानयज्ञ भेद से दो प्रकार का है। विना अग्नि के होने वाली अथवा एक अग्नि द्वारा सम्पन्न होने वाली क्रियाएँ पाकयज्ञ हैं। गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि या ध्रिष्ण्याग्नि तथा आहवनीय इन तीनों अग्नियों से निष्पन्न होने वाली क्रियाएँ वितानयज्ञ हैं। वितानयज्ञोपयोगी सभी मन्त्रों का संग्रह कर प्रथम ऋगादि तीन संहिताओं का निर्माण किया। पाकयज्ञोपयोगी मन्त्रों का अथवा जिनका वितानयज्ञ में विनियोग नहीं है, ऐसे मन्त्रों का संग्रह कर चौथी अथर्वसंहिता का निर्माण किया। अथर्वा आङ्गिरसगोत्रीय तथा चातुर्विद्य होता है। "ऋक् मन्त्रों द्वारा हौत्र (होता के द्वारा निष्पाद्य) कर्म होता है। यजुर्मन्त्रों के द्वारा आध्वर्यव (अध्वर्यु द्वारा निष्पाद्य) कर्म तथा साम मन्त्रों के द्वारा औद्गात्र (उद्गाता द्वारा निष्पाद्य) कर्म होता है। ब्रह्मत्व किसके द्वारा होता है? इसका उत्तर देते हुए कहा है कि त्रयीविद्या के द्वारा।"

जैसा कि "ऋचा हौत्रं क्रियते। यजुषाऽऽध्वर्यवं, साम्नौद्गात्रम्, अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते—त्रय्या विद्यया इति ब्रूयात्" इस श्रुति के द्वारा सिद्ध हो रहा है। ऋत्विजों में चातुर्विद्य अथर्वा ब्रह्मा

कहलाता है। इसीलिए इस चतुर्थ अथर्ववेद को ब्रह्मवेद कहते हैं। इस प्रकार यज्ञोपयोगी नित्यमन्त्रों से चार वेदसंहिताओं का निर्माण कर उनसे अवशिष्ट, मन्त्रातिरिक्त इतिहासप्रकरणों से पाँचवीं पुराण-संहिता का व्यासजी ने निर्माण किया।

इन पांचों संहिताओं का लोक में प्रचार करने के लिए उन्होंने पांच शिष्य बनाये। उन्होंने पैल नामक शिष्य को ऋक्संहिता का, वैशम्पायन को यजु:संहिता का, जैमिनि को सामसंहिता का, सुमन्तु को अथर्वसंहिता का तथा लोमहर्षण को पुराणसंहिता का अध्यापन कराया। उनमें यह पुराणसंहिता जो कि सृष्टिभेद से १८ भागों में विभक्त थी, जिसका कि वेदव्यास ने निर्माण किया था, कालप्रभाव से विलुप्त हो गयी और वह अब नहीं मिलती। किन्तु वेदव्यासीय पुराणसंहिता के आधार से लोमहर्षण तथा उग्रश्रवा के द्वारा प्रणीत १८ पुराण ग्रन्थ इस समय लोक में प्रचलित हैं। पौराणिक विषयों के परिज्ञान के लिए उन्हीं पुराण ग्रन्थों का यहाँ विचार किया जा रहा है। विज्ञानभेद से पांच भागों में विभाजित इन १८ पुराण-ग्रन्थों के पांच अनुबन्ध निम्नलिखित हैं—

(१) पुराणसंज्ञान, (२) ग्रन्थश्लोकसंख्यान, (३) कल्पभेद, (४) संवाद के वक्ता और श्रोता और (५) पौराणिक रहस्य।

१८ महापुराणों में प्रतिपादित पुराण के अनुबन्धों का पुराणवचनानुसार ही यहाँ उल्लेख किया जा रहा है। मत्स्यपुराण के ५३ वें अध्याय में पुराणक्रम तथा उनके अनुबन्ध इसी ग्रन्थ के पृष्ठ २५, २६ पर बतलाये गये हैं।

काण्डचतुष्टयात्मक वेदव्यासीय कल्प का प्रथम काण्ड

१. ब्रह्मपुराण

"ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥
(मुण्डक)

अर्थात् देवताओं में सर्वप्रथम ब्रह्मा उत्पन्न हुआ, जिसने कि विश्व का निर्माण किया तथा उसकी रक्षा की। उस ब्रह्मा ने सब विद्याओं की प्रतिष्ठाभूत ब्रह्मविद्या का उपदेश अपने ज्येष्ठपुत्र

अष्टादशमहापुराणप्रतिपत्तिः पुराणानुबन्धाश्च पुराणवचनानुसारेणैव तावत् प्रदर्श्यन्ते।
तथा हि मत्स्यपुराणस्य त्रिपञ्चाशत्तमे [५३] अध्याये प्रोक्तः पुराणक्रमो यथा—

		पुराणनामानि	ग्रन्थश्लोक-प्रमाणम्	वृत्तसम्बन्धी कल्पः	संवादे वक्ता	संवादे श्रोता	पौराणिकरहस्यम्
१. अत्र प्रथमोऽयं विभागः (६) षडवयवः १-६	१.	ब्राह्मम् भौमम्	१३०००		ब्रह्मा	मरीचिः	भूविधर्ता गर्भेऽमृतप्राणः ध्रुवद्वयस्पर्शी
	२.	पाद्मम् भौमम्	५५०००	पाद्मकल्पः			मर्त्याग्निमयः पृथिवीपिण्डः
	३.	वैष्णवं भौमम्	२३०००	वाराहकल्पः	पराशरः		एमूषवराहनाभिस्थः स्तम्भनवायुवेष्टनः एमूष-वराहलक्षणो यज्ञः
	४.	वायवीयं दिव्यम्	२४०००	श्वेतकल्पः	वायुः		सौरहिरण्मयाकाशस्थः शिववायुहंसवायुसमुद्रः
	५.	भागवतं दिव्यम्	१८०००	सारस्वतकल्पः			आपः पारमेष्ठ्यहंसस्थाः २२-३३द्वादशस्तोमःसरस्वान्
	६.	नारदीयं दिव्यम्	२५०००	बृहत्कल्पः			आर्षेयः स्वायंभुवः सर्वो भावः अष्टाचत्वारिंशस्तोमान्तः
२. द्वितीयो विभागः (४) चतुरवयवः ७-१०	७.	मार्कण्डेयम्	९०००		मार्कण्डेयः	शकुनयः	त्रिगुणाव्यक्तप्रधानकर्तृका सृष्टिः १
	८.	आग्नेयम्	१६०००	ईशानकल्पः	अग्निः	वसिष्ठः	अग्निमूला सृष्टिः २
	९.	भविष्यम्	१४५००	अघोरकल्पः	ब्रह्मा	मनुः	सूर्यमूला सृष्टिः ३

३. तृतीयो विभागः (६) षडध्यायः ११-१६	१०.	ब्रह्मवैवर्तम्	१८०००	रथन्तरकल्पः	सावर्णिः	नारदः	ब्रह्मविवर्तरूपा मिथ्या सृष्टिः ४
	११.	लैङ्गम्	११०००	अनन्तकल्पः	शिवः		
	१२.	वाराहम्	२४०००	मानवकल्पः	विष्णुः	पृथिवी	
	१३.	स्कान्दम्	८११००	तत्पुरुषकल्पः	स्कन्दः		
	१४.	वामनम्	१००००	कूर्मकल्पः	ब्रह्मा		
	१५.	कौर्मम्	१८०००	लक्ष्मीकल्पः	कूर्मः	ऋषभः	
	१६.	मात्स्यम्	१४०००	आदिकल्पः	विष्णुः	मनुः	
चतुर्थो विभागः	१७.	गारुडम्	१८०००	गारुडकल्पः	कृष्णः	गरुडोद्भवः	
पञ्चमो विभागः	१८.	ब्रह्माण्डम्	१२२००	भविष्यकल्पः	ब्रह्मा		

गारुडे तु पूर्वखण्डे २२३ अध्याये पुराणानामन्यथाक्रमो निरूप्यते तत् पुराणवैज्ञानिकभावप्रदर्शनापेक्षया द्रष्टव्यम्। वस्तुतस्तु मात्स्योक्तक्रम एव साधीयान् विज्ञायते।

अथ मात्स्ये १२२ अध्याये-भूमेर्दशगुणा आपः समन्ताद् भूमिं वेष्टयन्ति। ततो दशगुणोऽग्निः। ततो दशगुणो वायुः। ततो दशगुणं व्योम। ततो दशगुणं भूतादि। ततो दशगुणं महत्। तदनन्तेनाव्यक्तेन समन्तात् परिवेष्टितम्। सोऽयमित्थं पृथिव्याः संनिवेशः। उक्तं हि-वेष्टयन्ति पृथिवीं परितः सप्त सिन्धवः। १. लवण २. इक्षु ३. सुरा ४. सर्पिः ५. दधि ६. क्षीरोदकक्रमात्। क्षारः—मधु-मादकम् दधि-घृतम्-क्षीरं-जलम्। १. लवणम्, २. मिष्टरसः, ३. मद्यम्, चर्बी, ५. अम्लरसः ६. दुग्धम्, ७. अशुद्धोदकम्।

अथर्वा को किया। इस मन्त्र के प्रामाण्य से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मा सबसे पहिले प्रादुर्भूत हुआ। इसी ब्रह्मा ने वेदसृष्टि, लोकसृष्टि प्रजासृष्टि तथा धर्मसृष्टि भेद से चार प्रकार की सृष्टि उत्पन्न की।

इस पुरुष प्रजापति ने कामना की थी कि मैं बहुत बनूँ, अपने आपको उत्पन्न करूँ—इस दृष्टि से श्रम और तप करते हुए ब्रह्मा ने सर्वप्रथम त्रयीविद्या (ऋक्, यजुः, साम) को उत्पन्न किया। यही त्रयीविद्या सृष्टि के लिए प्रतिष्ठा बनी। इसीलिए कहा है कि ब्रह्मा इस सबकी प्रतिष्ठा है। (शत० ६।१।१।८) तदनन्तर ब्रह्मा ने सर्वप्रथम त्रयीविद्यारूप ब्रह्म को उत्पन्न किया। इसीलिए विद्वानों ने कहा है कि—"ब्रह्म सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ है।" (शत० ६।१।१।१०)॥

अन्यत्र भी श्रुतियों में बतलाया गया है कि ऋग्, यजुः, साम-रूप त्रयीविद्या ही ब्रह्म है। यही प्रतिष्ठा है। इसी प्रतिष्ठा से सारे लोक प्रतिष्ठित हुए। इन लोकों में सब प्रजाएँ प्रतिष्ठित हुईं। पश्चात् वर्णभेद से प्रजाओं में चातुर्वर्ण्य आदि धर्म उत्पन्न किए। ऋक्, यजुः, साम, अथर्व ये चार वेद वेदसृष्टि है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और आपोलोक ये चार लोक लोकसृष्टि हैं। अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा ये चार प्रजासृष्टि हैं। ब्रह्म, क्षत्र, विट्, शूद्र ये चार वर्णधर्म धर्मसृष्टि है। इन चार प्रकार की सृष्टियों तथा इनसे सम्बद्ध कतिपय अन्य विषयों का भी इस ब्रह्मपुराण में निरूपण किया गया है।

२. पद्मपुराण

यह ब्रह्मा कहाँ से उत्पन्न हुआ, इस शंका का समाधान करने के लिए पद्मपुराण की प्रवृत्ति है। वह ब्रह्मा पद्मभू अर्थात् पद्म से उत्पन्न होने वाला माना गया है। इस पद्म का क्या स्वरूप है, किस प्रकार पद्म से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई—इत्यादि विषयों का निरूपण इस द्वितीय पद्मपुराण में है।

३. विष्णुपुराण

यह पद्म किससे प्रादुर्भूत हुआ, इस शंका के समाधान रूप में पद्म के उत्पादक का निरूपण करने के लिए तृतीय विष्णुपुराण की प्रवृत्ति हुई। विष्णु के नाभिकमल से पद्म पैदा होता है। इस तथ्य

का तथा इससे सम्बन्धित विष्णुस्वरूप का प्रतिपादन व कतिपय अन्य विषयों का निरूपण इस पुराण में हुआ है।

४. वायुपुराण

वह विष्णु कहाँ प्रतिष्ठित है, इस तथ्य का निरूपण करने के लिए चौथे वायुपुराण की प्रवृत्ति है। वायु आकाश का भी उपलक्षक है। आकाश और वायु दोनों मिलकर यजुष् शब्द से कहे जाते हैं। क्योंकि यजुष् शब्द की व्युत्पत्ति श्रुतियों में 'यच्च जूश्च' इस रूप से बतलायी गयी है। इसमें 'यत्' शब्द 'एति इति यत्' इस व्युत्पत्ति से गतिस्वभाव वाले वायुतत्त्व को बतलाता है तथा 'जू' शब्द "जूराकाशे सरस्वत्यां पिशाच्यां यवने स्त्रियाम्" इस कोश के अनुसार स्थितिस्वभाव वाले आकाश का बोधक है। ये आकाश और वायु दोनों सहचारी हैं। अतएव यहाँ दोनों का वायु शब्द से ही व्यवहार किया गया है। यह वायु आकाश की तरह अनन्त है तथा विनश्यमान सब पदार्थों के अन्त में यह अकेला अवशिष्ट रह जाता है, इसलिए अनन्त वाय्वाकाश को यहाँ शेष पद से कहा गया है। इस अनन्त शेष पर ही विष्णु निवास करता है। इसलिए इसके आधारभूत वायु का निरूपण वायुपुराण का विषय है।

५. भागवतपुराण

इस वायु का क्या आधार है, इस बात का प्रतिपादन करने के लिए भागवतपुराण की प्रवृत्ति हुई है। अर्थात् रोदसी, क्रन्दसी, संयती भेद से त्रिलोकी तीन प्रकार की है। प्रत्येक त्रिलोकी में एक एक समुद्र है। जिन के नाम क्रमशः अर्णव, सरस्वान् व नभस्वान् हैं। उनमें क्रन्दसी त्रिलोकी के समुद्र का नाम सरस्वान् है। जो कि पारमेष्ठ्य समुद्र भी कहलाता है। यही पारमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र अनन्त व शेष नामक वायु का आधार है। इसी पारमेष्ठ्य समुद्र का बोधन करने के लिए पारमेष्ठ्यसंहितापरपर्याय भागवतपुराण की प्रवृत्ति है। इसीलिये यह पारमेष्ठ्यसंहिता सारस्वत कल्प नाम से कही जाती है।

६. नारदपुराण

इस सरस्वान् समुद्र का आधार क्या है और यह कैसे उत्पन्न होता है, इस जिज्ञासा के समाधान के लिए छठा नारदपुराण उप-

स्थित होता है। अप् तत्व का नाम नार है, जैसा कि—'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः' इस वचन से सिद्ध हो रहा है। नार ऋषिप्राण से उत्पन्न मरुद्गण का वाचक है अर्थात् वायुमय अप्तत्व का नाम नार है। इस अप्तत्वमय नार को जो उत्पन्न करता है, उस प्राणविशेष का नाम ही नारद है और वह प्राण नित्य है। अतः अप्-तत्व का उत्पादक नित्यप्राण ही नारद है। इसी का प्रतिपादन नारद-पुराण का विषय है। इस प्राण से उत्पन्न सरस्वान् नामक समुद्र जो कि अप्संघातमय है, परमेष्ठी कहलाता है। "आपो वा इदं सर्वम्। ता यत् परमे स्थाने तिष्ठन्ति, यो हीहाभिखनेदपऽएवाभिविन्देत्। परमाद्वा एतत्स्थानाद्वर्षति यद्दिवस्तस्मात्परमेष्ठी नाम"। (शत. ११।१।६।१६) यह श्रुति इसी तथ्य की अभिव्यक्ति कर रही है। स्वयंभू से सर्वप्रथम उत्पन्न अप्संघात ही सरस्वान् समुद्र है और यही परमेष्ठी है। इसी सरस्वान् समुद्र में यजुष् शब्दवाच्य अनन्त वाय्वा-काशरूप शेष स्थित है। वाय्वाकाशरूप इस अनन्त शेषनाग में अनन्त सोमाहुतिरूप यज्ञ, जिसे कि विष्णु कहते हैं, होता रहता है। उस यज्ञ में मृत्युमय चित्य (मर्त्य) अग्निपिण्डरूप पद्म प्रादुर्भूत होता है। उसी पद्म में अमृतप्राणाग्निरूप प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्मा प्रतिष्ठित है। उसी ब्रह्मा ने इस सारे संसार को उत्पन्न किया। इसी रहस्य का प्रतिपादन ब्रह्मपुराण से लेकर नारदपुराणपर्यन्त ६ पुराणों में हुआ है। इसी विषय का उपपादन स्पष्टरूप से निम्नरूप से किया जा सकता है—

पुराणरूप सृष्टिविद्या में सृष्टि दो प्रकार की बतलायी गयी है—मानसी तथा मैथुनी। जहाँ एक ही तत्व से प्रकृति-विकास के अनुरोध से उतरवर्ती कुछ तत्व पैदा होते हैं, उसे मानसी सृष्टि कहा जाता है। महान्, अहंकार आदि तत्व मानसी सृष्टि में आते हैं। क्योंकि महदादि तत्वसृष्टि मूलप्रकृति का विकासरूप है। किन्तु जब दो पदार्थों के सम्बन्ध से उन दोनों पदार्थों का विनाश होकर किसी अभिनव पदार्थ की उत्पत्ति होती है, उसे मैथुनी सृष्टि कहते हैं। जैसे पीत और लाल रंग के योग से उन दोनों रंगों से भिन्न हरा वर्ण उत्पन्न होता है। इसी प्रकार योषा तथा वृषा दो पदार्थों के योग से जो अभिनव सृष्टि होती है उसमें दो तत्वों का मिथुन सम्बन्ध होने से उसे मैथुनी सृष्टि कहा जाता है। इन दोनों सृष्टियों में वेद-विद्या में प्रधान तौर से मानसी सृष्टि का ही निरूपण हुआ है किन्तु

पुराणविद्या में विशेष रूप से मैथुनी सृष्टि का प्रतिपादन है। मैथुनी-सृष्टियों के भी अनन्त होने से पृथिवीमण्डल में जितनी सृष्टियाँ होती हैं, उन्हीं के निरूपण के लिए पुराणसंहिता प्रवृत्त होती है।

जिस पृथिवी को हम देख रहे हैं, उसके आधारभूत पृथिवी-गर्भस्थ किसी अग्निविशेष का श्रुतियाँ निरूपण करती हैं, वह अग्नि चित्य, चितेनिधेय भेद से दो प्रकार का है। इनमें चित्य अग्नि मर्त्याग्नि है, यही भूतों का उत्पादक है और यही पृथिवीपिण्ड के आरम्भक पञ्चमहाभूतस्वरूप में परिणत होती है। इस चित्याग्नि में अग्निधर्म ताप नहीं है। इस चित्य या मर्त्याग्नि को पद्म कहते हैं किन्तु इसके गर्भ में अर्थात् केन्द्र में जो चितेनिधेयरूप अमृताग्नि है, वही ब्रह्मा है, वही स्वयंभू है। वह अग्नि इस पिण्डपृथिवी को उत्पन्न कर उसमें प्रविष्ट होकर उसके गर्भ में निरन्तर रहता है। इस अग्नि का धर्म ताप है। किन्तु यह तापधर्मा अमृताग्नि आधारभूत पिण्ड के विना नहीं रहती है, अतः इसे पृथिवीपिण्डरूप पद्म में रहने के कारण पद्मभू, पद्मयोनि और पद्मासन कहा जाता है। यह अग्नि देवताओं में सर्वप्रथम उत्पन्न हुई, इसलिए इसे देवताओं में ज्येष्ठ और स्वयं उत्पन्न होने के कारण स्वयंभू कहा जाता है। यही अग्नि असंज्ञ, अन्तःसंज्ञ और ससंज्ञरूप सम्पूर्ण प्रजासृष्टि का निर्माण करती है, इसलिए इसे 'स्रष्टा' 'वेधाः' 'विधाता' 'विधि' 'विरिञ्चि' तथा 'विश्वसृट्' नाम से कहा जाता है। यही ब्रह्मपुराण का प्रतिपाद्य विषय है।

वह तत्व महद्ब्रह्मसंज्ञक अक्षर है जो कि भूतभावन अपरिणामी अक्षर पुरुष से नित्य युक्त रहता है। इसी में सकल सृष्टि का लय होने से इसे 'लयं गच्छति यस्मिन् सकलं जगत्' इस व्युत्पत्ति से लिङ्ग भी कहा जाता है।

तदनन्तर अमृताग्निनामक ब्रह्मा जिस चित्य मर्त्याग्नि में प्रतिष्ठित है, उस पृथिवीपिण्ड को पद्म कहते हैं। पद्मपुराण में पृथिवी को पद्मरूप बतलाया गया है, जैसा कि—"एतदेव महापद्ममभूत् हैरण्मयं जगत्"—इस वचन से स्पष्ट है। इसी में स्थित होने से ब्रह्मा पद्मयोनि कहलाता है। पृथिवीपिण्डरूप पद्म के भूत-भौतिकसमुदायरूप होने से सर्वविध भूतभौतिक-समुदायरूप सृष्टि-प्रकार का निरूपण ही पद्मपुराण का प्रतिपाद्य है। पृथिवीपिण्ड-

निर्माण एमूषवराह वायु से होता है, अतः इसे एमूषवराह की दार भी पुराणों में कहा गया है।

यह पृथिवीरूप पद्म किस आधार से स्थित है, इस जिज्ञासा के समाधान के लिए तृतीय विष्णुपुराण उपस्थित होता है। विष्णु के आधार पर ही यह पृथिवीपिण्ड स्थित है। क्योंकि इस पृथिवी से चारों दिशाओं में व्याप्त ३३ अहर्गण हैं। उन अहर्गणों में सत्रहवें अहर्गण से लेकर पचीसवें अहर्गण तक एक नवाह यज्ञ होता है। इस यज्ञ की प्रतिष्ठा २१ वाँ अहर्गण है। उसी यज्ञ को विष्णु कहते हैं। यह यज्ञ त्रिवृत् (९) पञ्चदश (१५) सप्तदश (१७) एकविंश (२१) भेद से चार स्तोम वाला होने से चतुष्टोम कहलाता है। चार स्तोमों से युक्त होने के कारण ही विष्णु को चतुर्भुज कहा जाता है। वह विष्णु यह सूर्य ही है। इस सूर्य से पृथिवीपिण्ड तक एक सुषुम्णा नाडी आती है। इसे ही ब्रह्मनाल कहते हैं। यह ब्रह्मनाल १७ वें अहर्गण से लेकर २५ वें अहर्गण तक प्रवर्तमान नवाहात्मक यज्ञपुरुष के नाभि (केन्द्र) २१ वें अहर्गणरूप सूर्य से लेकर पृथिवी तक फैला हुआ है। पृथिवी को ही पद्म कहते हैं। इस पद्म की प्रतिष्ठा नवाहयज्ञरूप विष्णु की नाभि एकविंश अहर्गणरूप सूर्य है। इस प्रकार पृथिवी से लेकर सूर्यपर्यन्त तीनों लोकों का निरूपण विष्णुपुराण का विषय है।

यह विष्णु चौतरफ विस्तृत समुद्र में स्थित है। अर्थात् वह समुद्र सूर्यप्रकाशमण्डल के चौतरफ फैला हुआ है और परमेष्ठिमण्डल से उत्पन्न होता है। इसी समुद्र का निरूपण भागवतपुराण का प्रतिपाद्य है।

यह सरस्वान् समुद्र भी इसके चौतरफ व्याप्त वेदमण्डल से परिवेष्टित है। यह वेदमण्डल स्वयंभू, परमेष्ठी, सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा इन पांच शाखाओं में विभक्त है। इसका निरूपण वेद में किया गया है। इन्हीं पांचों मण्डलों का विपरीतक्रम से ब्रह्मादि पांच पुराणों के द्वारा निरूपण किया गया है।

अथवा पृथिवी का अग्नि ब्रह्मा है। ब्रह्माण्डरूप हिरण्यमय सौरमण्डल महापद्म है। आपोमय परमेष्ठी भगवान् विष्णु है। अनन्त वायुसमुद्र शेष है। अप्समुद्र सरस्वान् है। इन अप्तत्वों का उत्पादक ऋग्यजुःसामत्रयीरूप ब्रह्मप्राण नारद ऋषि है। वाङ्मयप्राणरूप

नारद से सरस्वान् नामक अप्समुद्र की सृष्टि होती है, सरस्वान् नामक अप्समुद्र से वायुसमुद्र की सृष्टि होती है। वायुसमुद्र में आपोमय पारमेष्ठ्य विष्णुधाम है। विष्णु की नाभि (केन्द्र) में हिरण्मयमण्डलरूप महापद्म की उत्पत्ति होती है। उसमें प्रादुर्भूत यह अमृताग्नि ब्रह्मा है, जिसकी पृथिवी प्रतिष्ठा है। यह ब्रह्मा ही पञ्चभूतमय-वेद, लोक, प्रजा तथा धर्मरूप चार प्रकार की सृष्टि उत्पन्न करता है।

प्रकारान्तर से—त्रयीब्रह्ममय वाक्प्राण नारद ऋषि है। इस नारदप्राण से सरस्वान् नामक अप्समुद्र की सृष्टि होती है।

इस अप्समुद्र से वायुसमुद्र की सृष्टि होती है।

वायुसमुद्र में पारमेष्ठ्य आपोमय विष्णुधाम है। समुद्रगर्भस्थित विष्णु की नाभि (केन्द्र) में हिरण्मयमण्डल रूप महापद्म है।

इससे अमृताग्निमय ब्रह्मा प्रादुर्भूत होता है, जिसका शरीर पृथिवीपिण्ड है।

वह ब्रह्मा लोक, वेद, प्रजा, धर्मरूप चतुर्विध सृष्टि उत्पन्न करता है।

इस प्रकार विपरीत क्रम से ब्रह्मपुराण से लेकर नारदपुराण-पर्यन्त छह पुराणसंहिताओं के द्वारा उपर्युक्त आधिदैविक तत्वों का प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त ६ पुराणों द्वारा आधिदैविक सृष्टिप्रकरण का भगवान् वेदव्यास ने कथन किया।

इसी आधिदैविक सृष्टि का निरूपण 'जगद्गुरुवैभव' ग्रन्थ में गुरुवर्य ने निम्नपद्यों में किया है:—

नागराज ऋषिप्रोद्यत्पारमेष्ठ्यसमुद्रगः।
नारदर्षिप्रजनिते सरस्वत्यस्ति नागराट्॥
अनन्ताख्यो वायुमयस्तत्र विष्णुरयं रविः।
स्कम्भयज्ञोऽस्त्ययं विष्णुः सूर्यो नारायणः प्रभुः॥
तन्नाभौ पृथिवीपद्मं सुषुम्णानाडिदिग्दलम्।
अक्षः पृथिव्या यः सोऽग्निर्ब्रह्मात्र प्रतितिष्ठति।
मेरौ प्रादुर्भवन् सोऽक्षो ध्रुवविन्दौ प्रसज्जते॥ इति।

इसके बाद आध्यात्मिक आत्मचतुष्टयमूलक शारीरसृष्टिप्रकरण का चार पुराणों के द्वारा कथन किया है। भगवान् वेदव्यास के समय में आध्यात्मिकसृष्टिसम्बन्धी चार मत प्रसिद्ध थे। उन्हीं चारों मतों का प्रतिपादन मार्कण्डेय आदि चार पुराणों के द्वारा किया गया है।

द्वितीय काण्ड

इस काण्ड में सृष्टिकारणता-विषयक उपर्युक्त चार मतों का प्रतिपादन किया गया है क्योंकि उस समय सृष्टि के कारण को लेकर चार मत प्रचलित थे।

प्रथम मत—सृष्टि का कारण गुणत्रयसमष्टिरूप प्रकृति है। इसी मत का प्रतिपादन मार्कण्डेयपुराण में किया है।

द्वितीय मत—'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण जगत् अग्नि में सोम की आहुति से उत्पन्न हुआ है। यहाँ अग्नि और सोम शब्द मौलिक तत्वों के वाचक हैं। जिसमें आहुति होती है, उस आधारभूत द्रव्य को अग्नि कहते हैं और जिसकी आहुति होती है, उस आहुत द्रव्य को सोम कहते हैं। अग्नि और सोम में, सोम अग्नि में आहुत होकर अग्निरूप बन जाता है, अतः अग्नि ही शेष रहता है। अतः सोम का अन्तर्भाव भी अग्नि में ही है। इस प्रकार अग्नि से ही सारी सृष्टि होती है—यह द्वितीय मत है। इसका प्रतिपादन अग्निपुराण का विषय है।

तृतीय मत—किन्तु यह अग्नि भी सूर्य से उत्पन्न होती है जैसा कि बृहद्देवता में शौनक ने कहा है—

अस्यैके सूर्यमेवैकं प्रभवं प्रलयं विदुः।
सूर्याग्नितः प्रजायेते अग्नी मध्यमपार्थिवौ ॥ इति।

अर्थात् कतिपय विद्वान् सूर्य को ही इस विश्व का उत्पत्ति-स्थान और प्रलयस्थान मानते हैं। मध्यमलोकरूप अन्तरिक्ष की अग्नि तथा पृथिवीलोक की अग्नि इस सूर्याग्नि से ही पैदा होती हैं। अतः अग्नि के भी सूर्याग्नि से उत्पन्न होने के कारण सूर्य ही वस्तुतः जगत् का प्रभव और प्रलय है। इस मत का प्रतिपादन भविष्यपुराण में किया गया है।

चतुर्थ मत—'अथ वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इस श्रुति के अनुसार सब प्रपञ्च विकारमात्र है। वाङ्मात्र से आरब्ध है। वास्तविक तत्व तो ब्रह्म ही है। ब्रह्म से ही सारी सृष्टि उत्पन्न होती है किन्तु ब्रह्म असङ्ग है और निर्विकार है, अतः उससे यह ससङ्ग सृष्टि उत्पन्न नहीं हो सकती। इसलिए यह मानना पड़ता है कि यह सृष्टि रज्जु में कल्पित भ्रान्तिमय सर्प की तरह ब्रह्म में भ्रान्ति से कल्पित है। इस प्रकार ब्रह्म भ्रान्तिकल्पित अर्थात् विवर्तरूप सृष्टि का कारण सिद्ध होता है। इसी मत का प्रतिपादन ब्रह्मवैवर्तपुराण के द्वारा किया गया है।

ये ही चारों मत क्रमशः प्रकृतिकारणतावाद, अग्निकारणतावाद, सूर्यकारणतावाद और विवर्तकारणतावाद नाम से प्रसिद्ध हैं। इन मतों का उपर्युक्त चार पुराणों में कथन किया गया है।

वेदव्यासीय पुराणसंहिता का तृतीय काण्ड

इस काण्ड में ६ पुराणों के द्वारा अवतारसृष्टि का प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि भगवान् प्रजापति ही सृष्टि का मुख्य कारण है किन्तु इसके अवान्तर कारण कौन हैं? इसका विचार करते हुए सृष्टि के अवान्तरकारण ६ बतलाये गये हैं। ये ही छहों अवान्तर कारण प्रजापति के अवतार कहलाते हैं। इन्हीं छहों अवतारों का प्रतिपादन वेदव्यासीय पुराणसंहिता के इस तृतीय काण्ड में किया गया है। इनमें सर्वप्रथम लिङ्गावतार का निरूपण ११ वें लिङ्गपुराण के द्वारा किया गया है। जिसमें ये सकल कार्यपदार्थ विलीन होते हैं।

इसी महद्ब्रह्माक्षररूप लिङ्ग से सृष्टि का प्रतिपादन मुण्डकश्रुति बतला रही है—

"यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद् विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति"। इति।

अर्थात् जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से उसके सदृश हजारों विस्फुलिङ्ग (अग्निकण) उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार हे सौम्य! अक्षर से अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं और वे उसी में लीन हो जाते हैं। भूत ही क्षरपुरुष कहलाते हैं और उनमें रहने वाला पुरुष अक्षर और भूतपति कहलाता हैं। इसी बात का गीतास्मृति में प्रतिपादन किया गया है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।। इति ।

यद्यपि उपर्युक्त मुण्डकश्रुति में अक्षर पुरुष में सब पदार्थों का विलय बताया गया है न कि क्षरपुरुष में तथापि क्षर और अक्षर परस्पर अविनाभूत हैं और इस प्रकार उनका ऐक्य है। इसलिए क्षरपुरुष में होने वाला भूतों का विलय तदभिन्न अक्षरपुरुष में कहलाता है । इसी अभिप्राय से श्रुति में अक्षरपुरुष में लय बतलाया है।

यह महद्ब्रह्मरूप अक्षर नाना प्रकार के हैं। इसलिए इनसे नाना प्रकार की सृष्टियाँ होती हैं। इन महद्ब्रह्मसंज्ञक लिंगों का ही निरूपण विशदरूप से लिङ्गपुराण में किया गया है।

वराहपुराण

इस लिङ्गरूप अक्षर से उत्पन्न होने वाली सृष्टि में कितने ही क्षरपिण्ड उत्पन्न होते हैं। वे क्षरपिण्ड पृथिवी कहलाते हैं। उनका स्वरूप चौतरफ व्याप्त पिण्डसम्पादक स्तम्भन करनेवाले वायु-विशेष के द्वारा संवेष्टित होने पर निष्पन्न होता है। क्षरपिण्डों के स्वरूप के निष्पादक उस वायु का नाम ही वराह है। क्योंकि वह पिण्डसम्पादक वायु बिखरे हुए पृथिवीपरमाणुओं को आवृत करता है और उन्हें संघातरूप में परिणत कर देता है। अतः वह परमाणुओं का आवरक तथा संहननकारक वायु "वृणोतीति वरः' अह्नोति-व्याप्नोतीति अहः 'वरश्चासौ अहश्च इति वराहः' इस व्युत्पत्ति से 'वराह' कहलाता है । प्रत्येक पिण्ड की निष्पत्ति इस वराहरूप वायुविशेष से ही होती है । किन्तु विभिन्न पिण्डों के सम्पादक वराहों के नाम विभिन्न हैं। उनमें स्वयम्भूपिण्ड का सम्पादक वराह-वायु आदिवराह कहलाता है। परमेष्ठिपिण्ड का सम्पादक वायु यज्ञवराह, सूर्यपिण्ड का सम्पादक वायु श्वेतवराह, पृथिवीपिण्ड का सम्पादक वायु एमूषवराह तथा चन्द्रपिण्ड का सम्पादक वायु ब्रह्मवराह कहलाता है । आधिदैविक अश्वत्थ वृक्ष की पांच वल्शाएँ (टहनियाँ) हैं। अश्वत्थ वृक्ष की ये पांचों वल्शाएँ ही स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, पृथिवी व चन्द्रमा हैं । इस प्रकार आधिदैविक अश्वत्थ वृक्ष के उपर्युक्त पांचों पिण्डों के स्वरूपसम्पादक प्रजापति के

अवतार ये पांच वराह सिद्ध होते हैं। इन्हीं पञ्चवराहों से स्वयम्भू आदि पांचों पिण्डों की सृष्टि होती है। इन्हीं का निरूपण वराह-पुराण में किया गया है।

इसीलिये श्रुतियों में कहा है—

"सः (प्रजापतिः) वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत्। स पृथ्वीमध आर्छत्। तस्या उपहत्योदमज्जत्। तत् पुष्करपर्णोऽप्रथयत् तत् पृथिव्यै पृथिवीत्वम्" (तै. ब्रा. १।३।६।७)

"इयती वाऽइयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री। तामेमूष इति वराह उज्जिघान। सोऽस्याः (पृथिव्याः) पतिः प्रजापतिः (शत. १४।१।२।२१) इति

गुरुवर्य ने इसी वराहवायु का निरूपण करते हुए लिखा है—

यो वायुरेतामवृणोत् तथाह्नोत् तं वै वराहं प्रवदन्ति पूर्वे।
अदारयत्तामियमस्य दारास्तस्माच्च भूदारमिमं वदन्ति॥
अद्यापि पृथ्वीं परितः स वायुर्भूपृष्ठतो द्वादशयोजनान्तम्।
आक्रम्य तां संवृणुते समन्तादेमूष इत्येतमुदाहरन्ति॥

प्रत्येक पिण्ड की निष्पत्ति इसी वराह वायु से होती है। इनमें पृथ्वीपिण्डनिष्पादक वराह को एमूषवराह कहते हैं। क्योंकि वह वराहवायु इस पृथ्वी के चौतरफ रहता है अतः—'आ समन्तात् ईम्—इमां पृथिवीं वसति' इस व्युत्पत्ति से इसकी एमूषसंज्ञा है।

यह एमूषवराह जल में विद्यमान पृथिवीपरमाणुओं को आवृत कर तथा उन्हें संघटित कर भूमि का निर्माण करता है। यही वराह के द्वारा जलनिमग्न पृथिवी के उद्धार का वैज्ञानिक रहस्य है। तैत्तिरीयसंहिता में इसका स्पष्ट उल्लेख है। जैसे—

'आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तस्मिन् प्रजापतिर्वायु-र्भूत्वाऽचरत्। स इमामपश्यत्। तां वराहो भूत्वाऽहरत्।' इति।

स्कन्दपुराण

इन उपर्युक्त पृथिवीपिण्डों में पृथिवी का आरम्भक अग्नि मर्त्य, अमृतभेद से दो प्रकार का है। मर्त्याग्नि से पृथिवी का शरीर निष्पन्न होता है और अमृताग्नि उसके गर्भ में प्राणरूप से प्रतिष्ठित रहती है। वही प्राणरूप अमृताग्नि प्रजापति कहलाता है।

प्रजापतिरूप इस अग्नि के पाँच अवतार हैं। (१) संवत्सराग्नि, (२) वैश्वानराग्नि, (३) कुमाराग्नि, (४) चित्याग्नि और (५) पाशुकाग्नि। इनमें मध्यस्थ कुमाराग्नि है। इसी को प्रधान मानकर सकल पृथिवीशरीरों का निरूपण स्कन्दपुराण में किया गया है क्योंकि कुमार को ही स्कन्द कहते हैं। अतः कुमाराग्नि का निरूपक स्कन्दपुराण है। इस कुमाराग्नि का निरूपण शतपथब्राह्मण के षष्ठकाण्ड के प्रथम ब्राह्मण में किया गया है :—

'अभूद्वाऽइयं प्रतिष्ठेति। तद्भूमिरभवत् तामप्रथयत् सा पृथिव्यभवत् तस्यामस्यां प्रतिष्ठायां भूतानि च भूतानां च पतिः संवत्सराय अदीक्षन्त। भूतानां पतिर्गृहपतिरासीद्, उषाः पत्नी। तद् यानि तानि भूतानि ऋतवस्ते। अथ यः स भूतानां पतिः संवत्सरः सः। अथ या सा उषाः पत्नी औषसी सा। तानीमानि भूतानि च भूतानां च पतिः संवत्सर उषसि रेतोऽसिञ्चन् स संवत्सरे कुमारोऽजायत। (शत. ब्रा. ६।१।३।७-८)

अर्थात् भूत व भूतपति संवत्सर प्रजापति ने उषा रूप पत्नी में रेतः—सेचन किया। उससे एक वर्ष में जाकर कुमाराग्नि उत्पन्न हुआ।

वामनपुराण

उपर्युक्त पृथिवीशरीर भिन्न-भिन्न द्युलोक के आश्रित हैं। इस प्रकार पृथिवी तथा द्युलोक से निष्पन्न द्यावापृथिवी का स्वरूप ही जगत् की प्रतिष्ठा बनता है और ये द्यावापृथिवी अनन्त हैं। उनमें से तीन द्यावापृथिवी प्रधान हैं। रोदसी क्रन्दसी और संयती। प्रत्येक द्यावापृथिवी में द्युलोक प्रतिपद् होता है और पृथिवी अनुचर होती है। पृथिवी को ही 'गो' शब्द से कहा जाता है क्योंकि सहस्र गोतत्वों के मिलने से ही एक पृथिवी का शरीर निष्पन्न होता है। उन सहस्र गोतत्वों में, जिनसे कि पृथिवी का शरीर निष्पन्न हुआ है, तीस-तीस गोतत्वों का एक अहर्गण होता है। इस प्रकार एक सहस्र गोतत्त्वों में ३३ से कुछ अधिक अहर्गण सिद्ध होते हैं। उन अहर्गणों में ६-६ अहर्गणों का एक एक स्तोम कहलाता है। उन स्तोमों में पहिला स्तोम ३ अहर्गण का होता है, जो कि पृथिवीपिण्ड के अन्तर्गत है और बाद में ६-६ अहर्गणों का एक-एक स्तोम बनता है। इस प्रकार ३३ वें अहर्गण तक ६ स्तोम हो जाते हैं। ३३

अहर्गणों को दो भागों में विभक्त करने से सप्तदशनामक एक स्तोम और सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार पृथिवीगर्भस्थ यज्ञरूप विष्णु पृथिवी से विक्रमण करता हुआ त्रिवृत्, पञ्चदश, एकविंश स्तोमों के द्वारा त्रिविक्रम बन जाता है। यही त्रिविक्रम यज्ञरूप विष्णु वामन कहलाता है, क्योंकि इस यज्ञरूप विष्णु की विक्रान्ति ३३ वें स्तोमपर्यन्त ६ स्तोम वाले वषट्कार में एकविंश अहर्गणपर्यन्त अर्थात् तृतीय स्तोम तक ही होती है। यह पृथिवीपिण्ड के गर्भ में रहता है अतः लघु है। अन्य देवता पृथिवी से बाहर एकविंश स्तोम तक रहते हैं। इसलिए इसे वामन कहते हैं। यह पृथिवीपिण्ड से निकल कर बाहर तीन विक्रमण करता है। अतः इसे त्रिविक्रम कहते हैं। इस यज्ञरूप विष्णु के प्रथम विक्रम के द्वारा त्रिवृत्-स्तोमरूप पृथिवी का संग्रह (ग्रहण) होता है। पञ्चदश स्तोमरूप द्वितीय विक्रम द्वारा पञ्चदशस्तोमरूप अन्तरिक्ष का संग्रह हो जाता है तथा एकविंशस्तोमरूप तृतीय विक्रम के द्वारा एकविंशस्तोमरूप द्युलोक का संग्रह हो जाता है। इस प्रकार तीन विक्रमों के द्वारा त्रिलोकी को अपने अधिकार में करता हुआ यज्ञपुरुषरूप विष्णु सकल सृष्टि का निर्माण करता है। इसी रहस्य का प्रतिपादन वामनपुराण में किया गया है। इस वामन का निरूपण शतपथ ब्राह्मण में निम्न रीति से किया है :—

'वामनो ह विष्णुरास। तद्देवा न जिहीडिरे महद्वै नोऽदुर्ये नो यज्ञसंमितमदद्दुरिति। ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य च्छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन्। 'गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि' इति दक्षिणतः। त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीति पश्चात्। जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीत्युत्तरतः। तं छन्दोभिरभितः परिगृह्य अग्निं पुरस्तात् समाधाय तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः, तेनेमां खर्वां पृथिवीं समविन्दन्त ॥इति॥ (शतः १, २, ५,)

कूर्मपुराण

"कश्यपात् सकलं जगत्" अर्थात् सारा जगत् कश्यप से उत्पन्न होता है, इस उक्ति के अनुसार कश्यप पृथिवी पर दरीदृश्यमान सकल पार्थिव सृष्टि का कारण है। यह कश्यप कूर्मप्राण है। क्योंकि यह सारी सृष्टि का निर्माण करता है, अतः "यदकरोत् तत्कूर्मः"

इस व्युत्पत्ति से कूर्म कहलाता है। यह कूर्मप्राणरूप प्रजापति कश्यप के आकार का बनकर सारी प्राणिसृष्टि का निर्माण करता है। जिस प्रकार कूर्म का ऊपर का भाग चौतरफ से झुका हुआ और पृथिवी से संलग्न होता है, नीचे का भाग समतल होता है, मध्य में अवकाश होता है, उसी प्रकार इस सकल जगत् के उत्पादक कूर्मप्राण का भी आकार है। त्रैलोक्यव्याप्त इस कूर्मप्राण का उत्तरकपाल द्युलोक है जो कि चौतरफ से झुका हुआ तथा क्षितिज भागों में पृथिवी से संलग्न प्रतीत होता है। इस प्राण का अधरकपाल पृथिवी है, जो कि सर्वथा समतल प्रतीत होता है। बीच में अन्तरिक्ष है, जो कि रिक्त प्रदेश प्रतीत होता है। इस प्रकार पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक में व्याप्त यह कूर्मप्राण पूर्णतया कश्यप के आकार से आकारित है। त्रैलोक्यव्याप्त कूर्मापरपर्याय इस कश्यपप्राण में पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक इन तीनों लोकों के रस विद्यमान हैं। पृथिवी का रस कठिन होने से दधि कहलाता है। अन्तरिक्ष का रस तरल होने से घृत कहलाता है और द्युलोक का रस विरल होने से मधु कहलाता है। द्युलोक का रस मधु है, इसीलिए द्युलोकस्थ आदित्य को छान्दोग्योनिषद् में—

"आदित्यो वै देवमधु"—इस रूप से मधुरूप बतलाया गया है। तीनों लोकों के दधि, घृत, मधु रसों से युक्त यह कूर्मप्राण इन रसों के द्वारा सृष्टि किया करता है। इस कश्यपापरपर्याय कूर्म को द्यावापृथिव्य भी कहा जाता है क्योंकि यह द्युलोक और पृथिवी लोक के मध्य में वर्तमान है। यह कूर्म आदित्यप्राण है। आदित्यस्वरूप कश्यप के आकारवाले इस कूर्मप्राण से पृथिवी में दधि, घृत तथा मधुरसों का सेचन होता है और वे ही रस प्रजासृष्टि के निर्माण में काम आते हैं अर्थात् उन्हीं से प्रजाओं के शरीर का निर्माण होता है। शरीर में इस तीनों रसों का प्रत्यक्ष किया जा सकता है। मानव-शरीर में जो अस्थ्यादि कठिनप्राय अङ्ग हैं, वे पृथिवी के दधिरूप घनप्राण से निर्मित हैं। रुधिर, वसा, रस आदि चीजें द्रवप्राय आन्तरिक्ष्य घृतरस से निर्मित हैं और शरीर में शर्करा भाग दिव्य मधुरस से निर्मित है।

लोकत्रयी के रसत्रयस्वरूप इस कश्यप प्राण से ही प्राणिशरीर का निर्माण होता है। इसी आधार पर "सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः"—

इस आभाणक के अनुसार सारी प्रजाएँ कश्यपोत्पन्न कहलाती हैं। इसी कूर्मापरपर्याय कश्यपप्राण का निरूपण कूर्मपुराण में किया गया है। इस कश्यपापरपर्याय कूर्मप्राण का शतपथ ब्राह्मण में निम्न रीति से निरूपण किया है—

'रसो वै कूर्मः। यो वै स एषां लोकानाम् अप्सु प्रविद्धानां पराङ् रसोऽत्यक्षरत् स एष कूर्मः। स एष इम एव लोकाः। तस्य यदधरं कपालं, अयं स लोकः। तत् प्रतिष्ठितमिव भवति। प्रतिष्ठित इव ह्ययं लोकः। अथ यदुत्तरं (कपालं) सा द्यौः। तद्व्यवगृहीतान्तमिव भवति। व्यवगृहीतान्तेव हि द्यौः। अथ यदन्तरा तदन्तरिक्षम्। स एष इम एव लोकाः। तमभ्यनक्ति दध्ना मधुना घृतेन। दधि हैवास्य लोकस्य रूपम्। घृतमन्तरिक्षस्य, मध्वमुष्य। स यत्कूर्मो नाम। एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। यदसृजत अकरोत्तत्। यदकरोत् तस्मात् कूर्मः। कश्यपो वै कूर्मः। तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति। स यः स कूर्मः असौ स आदित्यः। प्राणो वै कूर्मः। प्राणो हीमाः प्रजाः करोति। द्यावापृथिव्यो हि कूर्मः। इति। (शत. ब्रा. ६, १, १)

मत्स्यपुराण

"ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः।
देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः॥

इस मनुवचन के अनुसार सारी प्रजाओं की उत्पत्ति ऋषियों से बतलायी गयी हैं। ऋषि शब्द "ऋषयो वै प्राणाः" इस शतपथ-श्रुति के अनुसार मौलिक प्राण का बोधक है। ये प्राण तीन प्रकार के हैं। पार्थिव, आन्तरिक्ष्य तथा दिव्य। भृगु, अङ्गिरा और अत्रि--ये तीन प्राण पार्थिव हैं। कश्यप, दक्ष और क्रतु—ये तीन प्राण आन्तरिक्ष्य हैं। मत्स्य, वसिष्ठ और अगस्त्य—ये तीन प्राण दिव्य हैं। इन दिव्य तीन प्राणों में वसिष्ठ प्राण आकाश के उत्तर भाग में, अगस्त्य प्राण दक्षिण भाग में तथा मत्स्य प्राण मध्य भाग में रहता है। विषुवद्वृत्त से लेकर दक्षिण ध्रुव तक एक मत्स्य प्राण की स्थिति है तथा विषुवद्वृत्त से उत्तर ध्रुव तक दूसरे मत्स्य प्राण की स्थिति है। मत्स्यरूप प्राणविशेष के परिभ्रमण से यह सम्पूर्ण पार्थिव सृष्टि उत्पन्न होती है। इस विषय का प्रतिपादन मत्स्यपुराण में किया गया है।

इस प्रकार प्रजापति के अवतार लिङ्ग, वराह, कुमाराग्नि, वामन, कश्यप तथा मत्स्य इन ६ प्राणों से ६ प्रकार की अवान्तर सृष्टियाँ प्रजापतिसृष्टि में होती है। इस रहस्य का प्रतिपादन वेदव्यासीय पुराणसंहिता के लिङ्गपुराण से लेकर मत्स्यपुराण तक ६ पुराणों वाले तृतीयकाण्ड में किया गया है।

वेदव्यासीय कल्प के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय काण्ड में क्रमशः प्रतिपादित आधिदैविकसृष्टि, आध्यात्मिकसृष्टि तथा अवतार-सृष्टि का नामान्तर से भी निरूपण किया गया है। इनमें आधिदैविक-सृष्टिप्रतिपादक ब्रह्मादि ६ पुराणों को उक्थभेदनाम से कहा है। आध्यात्मिकसृष्टिप्रतिपादक चार मत वाले मार्कण्डेयादि चार पुराणों को उक्थमतभेद शब्द से व्यवहृत किया है तथा सृष्टि के अवान्तर कारणों के प्रतिपादक लिङ्गादि ६ पुराणों को अवतारभेद शब्द से व्यपदिष्ट किया है। जैसे—

उक्थभेदाः— ब्रह्मा-पद्मं-विष्णु-वायुश्चापश्च नारदश्चेति।
षट्कं सृष्टेरुक्थं ब्रह्मादीनां परं परं तूक्थम्॥

अर्थात् ब्रह्मा, पद्म, विष्णु, वायु, अप्तत्व व नारद—ये सृष्टि के उक्थ हैं। इनसे सृष्टि उत्पन्न होती है। इन ब्रह्मादि ६ उक्थों में पूर्व पूर्व उक्थ का पर पर उक्थ कहलाता है। जैसे ब्रह्मा से सकल सृष्टि उत्पन्न होती है अतः ब्रह्मा सकल सृष्टि का उक्थ है। ब्रह्मा पद्मोद्भूत है अतः ब्रह्मा का उक्थ पद्म है। पद्म विष्णु से उत्पन्न है अतः पद्म का उक्थ विष्णु है। इसी प्रकार विष्णु का उक्थ वायु, वायु का उक्थ अप्तत्व तथा अप्तत्व का उक्थ नारद प्राण है। जैसे—

उक्थमतभेदाः— त्रैगुण्यमग्निसूर्यौ ब्रह्मविवर्तोऽन्य उक्थमतभेदाः।
प्रकृतेरग्नेः सूर्यात् सृष्टिरियं ब्रह्मणो विवर्तो वा॥

अर्थात् त्रिगुणात्मिका प्रकृति, अग्नि व सूर्य से सृष्टि होती है। अथवा यह सृष्टि वास्तविक नहीं किन्तु ब्रह्म का विवर्त है अर्थात् ब्रह्म में भ्रान्ति से कल्पित है।

अवतारभेदाः— लिङ्गवराहवामनकुमारकूर्माश्च मत्स्यश्च।
एते षट् त्ववताराः सन्ति विराजोऽनुसृष्टिविधाः॥

अर्थात् लिङ्ग, वराह, वामन, कुमार (स्कन्द) कूर्म तथा मत्स्य ये ६ पुराण विराट् प्रजापति के अवतार हैं।

गरुडपुराण

उपर्युक्त रीति से वेदव्यासीय पुराणसंहिता के क्रमशः ६,४,६ इन भागों में विभक्त पुराणों के द्वारा सृष्टि-प्रकरण का विशदतया निरूपण किया गया है। इससे आगे चतुर्थ-काण्डात्मक गरुड-पुराण के द्वारा प्रतिसृष्टि का प्रतिपादन किया जा रहा है। प्रतिसृष्टि अनेक प्रकार की है—

१. प्रचलित क्रम के विपरीत क्रम से होने वाली सृष्टि प्रतिसृष्टि है।

२. सञ्चरक्रम से विरुद्ध प्रतिसञ्चरक्रम प्रतिसृष्टि है।

३. आत्मा के बहुत्व क्रम से विपरीत आत्मा का कैवल्य अर्थात् एकत्वक्रम प्रतिसृष्टि है।

४. उत्पत्तिक्रम से विपरीत निर्वाणक्रम प्रतिसृष्टि है। इन समस्त प्रतिसृष्टियों का प्रतिपादन गरुडपुराण का विषय है।

गरुडशब्द गरुत्मान् पक्षी को बतलाता है। इसी को वेदशास्त्र में अनेक स्थलों में सुपर्ण शब्द से कहा गया है। यह सुपर्णरूप प्राण-विशेष स्वयंभू आदि सात लोकों से क्रमशः अवतीर्ण होकर पृथिवी पर पहुँचकर पुनः आरोहक्रम से सप्तलोक-सम्बन्धी नाना भुवनों में इतस्ततः सञ्चरण किया करता है। इसलिए "शोभनं पतति गच्छति" इस व्युत्पत्ति के द्वारा इसे सुपर्ण कहा गया है। यह सुपर्ण पृथिवी में नाना योनियों में जन्मग्रहण करता है। तदनन्तर शरीर-त्यागानन्तर पुनः लोकान्तरों में गमन करता रहता है। इसलिए कर्मानुसार लोकान्तरों में गमन करनेवाला कर्मात्मारूप प्राण ही सुपर्ण कहलाता है जैसा कि श्रुति बतला रही है—

"एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश य इदं विश्वं भुवनं विचष्टे।
तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितस्तं माता रेढि स उ रेढि मातरम्॥"

अर्थात् एक हिरण्मय द्विव्य सुपर्ण समुद्र के अन्दर विद्यमान है जो कि सम्पूर्ण भवन का द्रष्टा है। उस सुपर्ण को मैंने शुद्ध मन से पृथिवी में और अध्यात्म में अत्यन्त समीप देखा। माता अर्थात् पृथिवी सुपर्ण को चाटती है और वह सुपर्ण माता पृथिवी को चाटता है। यह समुद्रान्तर्वर्ती सुपर्ण अर्थात् परमेष्ठिसमुद्र के गर्भ में स्थित सूर्यरूपी सुपर्ण सारे त्रिलोकी का साक्षात्कार करता है। यहाँ

मातृशब्द पृथिवी का वाचक है। अतः माता पृथिवी सूर्य को चाटती है—इसका तात्पर्य यह है कि पृथिवी सूर्य के रस को ग्रहण करती है और सूर्य पृथिवी को चाटता है—इसका तात्पर्य—सूर्य पृथिवी के रस को ग्रहण करता है। प्रकृत में यह तात्पर्य है कि दिव्य सुपर्ण प्राण पृथिवी में आता है। अथवा मातृशब्द से यहाँ वषट्कारापरपर्याय त्रैलोक्यरूपी वाक् का ग्रहण है—जिस वाक् का प्रतिपादन—

वाचं देवा उप जीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो ह वै जुषतामिन्द्रपत्नी ॥

इस श्रुति में किया गया है। "अथो वागेवेदं सर्वम्" यह ऐतरेय श्रुति भी इसी तथ्य का प्रतिपादन कर रही है। अतः उपर्युक्त मन्त्र में "स उ रेढि मातरम्" का अर्थ लोकत्रयरूपा वाक् का प्राण से सम्बन्ध होता है और "तं माता रेढि" का अर्थ प्राण लोकत्रयरूपा वाक् से संसृष्ट होता है।

इससे यह सिद्ध है कि यह सुपर्णरूप प्राणात्मा सर्वत्र इन लोकों में कर्मवश इतस्ततः सञ्चरण करता रहता है। इसी विषय का प्रतिपादन गरुडपुराण में हुआ है। गरुडपुराण जीवित प्राणी के भावी फल को बतलाता है—अर्थात् जीवित विद्यमान प्राणी शरीर-त्यागानन्तर कहाँ-कहाँ जायेगा? किन-किन फलों को भोगेगा? इत्यादि बातों का निरूपण ही गरुडपुराण का विषय है। इस सुपर्ण का प्रतिपादन चितिब्राह्मण में भी किया गया है। वहाँ यह बतलाया गया है कि किस प्रयोजन के लिए अग्निचयन किया जाता है? कितने ही आचार्यों का मत है कि यह अग्नि सुपर्ण बनकर मुझे स्वर्गलोक में पहुँचा दे—इसलिए चयन किया जाता है। किन्तु याज्ञवल्क्य कहते है कि अग्निचयन का यह प्रयोजन नहीं है, अपि तु प्राण सुपर्णरूप धारण कर प्रजापति बना और उसी रूप से उसने देवों को उत्पन्न किया। इसी सुपर्णरूप को धारण कर देवता अमर बने। क्योंकि इसी रूप से वे प्राण, प्रजापति और देव बने, इसीलिए अग्निचयन किया जाता है। (शत. ६।१।२।३५)

इस प्रकार ४ काण्डों के द्वारा वेदव्यासीय पुराणसंहिता में सृष्टि तथा प्रतिसृष्टि से सम्बन्धित विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

ब्रह्माण्डपुराण

सृष्टि तथा प्रतिसृष्टि का प्रतिपादन करने के बाद उनके आयतन का निरूपण करना है। जिस आयतन में ये सृष्टियाँ तथा प्रतिसृष्टियाँ होती हैं, उसी आयतन का नाम ब्रह्माण्ड है। ब्रह्माण्ड के स्वरूप का प्रतिपादन ब्रह्माण्डपुराण का विषय है। इस प्रकार पञ्चलक्षण अर्थात् पञ्चधा विभक्त पुराणसंहिता के द्वारा सम्पूर्ण विश्वविद्या का प्रतिपादन वेदव्यास ने किया। यह विश्व की सृष्टि तथा प्रतिसृष्टि का विज्ञान अत्यन्त प्राचीन है। इसलिए इस विश्व-सृष्टिविज्ञान को पुराणशास्त्र कहा जाता है।

यद्यपि उपर्युक्त रीति से वेदव्यासकल्पीय पुराणसंहिता पाँच भागों में विभक्त है तथापि प्रतिसृष्टिविषयक तथा आयतननिरूपक भाग को एक मानकर इसे काण्डचतुष्टयात्मिका पुराणसंहिता कहा है।

द्वितीय कल्प समाप्त ॥

उत्तरकल्पीय पुराणसंहिता के तृतीय तथा चतुर्थ कल्प

उत्तरकल्पीय पुराणसंहिता लोमहर्षणसम्बन्धी तथा उग्रश्रवा-सम्बन्धी भेद से दो प्रकार की है। सर्वप्रथम लोमहर्षण ने व्यासप्रणीत पुराणसंहिता का अध्ययन कर एक नवीन पुराणसंहिता की रचना की। लोमहर्षणप्रणीत पुराणसंहिता पाँच लक्षणों से युक्त थी। वे पाँच लक्षण—मन्वन्तर, सृष्टि, प्रतिसृष्टि (प्रलय), वंश व वंश्यानुचरित थे।

सृष्टि से पुराणों में प्रतिपादित प्रकृत्यादि नव सर्ग अभिप्रेत हैं। प्रतिसृष्टि शब्द से अनुसृष्टि भी अभिप्रेत है। यह प्रतिसृष्टिभेद अनुसृष्टि भुवनकोश (भूगोल) से सम्बन्धित तथा ज्योतिश्चक्र (खगोल) से सम्बन्धित होने के कारण दो प्रकार की है। वंश—ऋषिवंश, सूर्यवंश, चन्द्रवंश तथा अग्निवंश भेद से चार प्रकार का है। उन्हीं चारों वंशों में अत्यन्त महत्त्वशाली तथा विशिष्ट कर्मों वाले पुरुषों का चरित ही वंश्यानुचरित कहलाता है। चौदह मनुओं का क्रम तथा उनके कतिपय चरित ही मन्वन्तर में निरूपित है। मनुओं के भोगकाल को ही मन्वन्तर कहते हैं। 'मन्वन्तर—निर्धार' नामक लघुकाय पुस्तक में मन्वन्तर के विषयों का संक्षिप्त तथा सारपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया गया है। लोमहर्षणप्रणीत पुराणसंहिता का इतना ही सन्दर्भक्रम है।

लोमहर्षण के ६ शिष्य थे । वे ६ शिष्य—त्रय्यारुणि, कश्यप, सावर्णि, अकृतव्रण, शांशपायन तथा हारीत थे। इसीलिए कहा है—

त्रय्यारुणिः कश्यपश्च सावर्णिरकृतव्रणः ।
शांशपायनहारीतौ षड् वै पौराणिका इमे ।।

उनमें से शांशपायन, सावर्णि तथा कश्यप ने अपनी अपनी पृथक् पुराणसंहिताओं का निर्माण किया । शांशपायननिर्मित पुराण-संहिता में लोमहर्षणप्रणीत संहिता की अपेक्षा—आख्यान, उपाख्यान, गाथा व कल्पशुद्धि—इन नवीन विषयों का निरूपण था ।

यद्यपि—'आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः ।
पुराणसंहितां चक्रे भगवान् बादरायणः ।।'

इस उक्ति से आख्यान, उपाख्यान, गाथा तथा कल्पशुद्धि—इन अंशों का संनिवेश वेदव्यासकृत पुराणसंहिता में भी था, यह सिद्ध होता है । तथापि पुराणविद्या का आविर्भाव व्यास ने ही किया था, इस तथ्य को बतलाने के लिए सभी पुराणविषयों को वेदव्यास-प्रणीत कह दिया गया है । इसीलिए पुराणसंहिता के निर्माणकाल के बहुत समय बाद नैमिषारण्य क्षेत्र में सूत तथा शौनक के संवादरूप १८ पुराणग्रन्थों को भी वेदव्यासप्रणीत बतला दिया गया है । जैसे—

'अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतः ।' इति ।

वस्तुतः वेदव्यास ने लोमहर्षण एवं उनके शिष्यों द्वारा प्रणीत पुराणसंहिताओं की मूलभूत पुराणसंहिता का ही निर्माण किया था न कि लोमहर्षणादिप्रणीत पुराणसंहिताओं तथा तदुत्तरकालिक सूतशौनकसंवादसिद्ध १८ पुराणग्रन्थों का । पुराणों के आलोचनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि १८ पुराणग्रन्थों का निर्माण लोमहर्षण तथा उनके पुत्र व शिष्य उग्रश्रवा ने ही किया था । इसी प्रकार आख्यान, उपाख्यान, गाथा तथा कल्पशुद्धिरूपविषयों से युक्त पुराणसंहिता का प्रणयन शांशपायन ने ही किया था ।

आख्यान तथा उपाख्यान—आख्यान तथा उपाख्यान शब्दों के अर्थ में विद्वानों में विचारभेद है । जैसे—

१. दृष्टि चरित्र आख्यान तथा श्रुतचरित उपाख्यान ।

२. सर्वप्रकार के चरित्र आख्यान तथा प्रासङ्गिक चरित्र उपाख्यान।

३. महान् सन्दर्भवाले चरित्र आख्यान तथा क्षुद्र सन्दर्भ वाले चरित्र उपाख्यान।

४. वैदिक चरित्र आख्यान तथा लौकिक चरित्र उपाख्यान।

ये आख्यान तथा उपाख्यान निम्नरीति से ८ भागों में विभक्त हैं। जैसे—

१. केवल आध्यात्मिक, (अध्यात्म से सम्बन्धित)।

२. केवल आधिदैविक (प्रकृति से सम्बन्धित)।

३. केवल आधिभौतिक (भूतों से सम्बन्धित)।

४. आध्यात्मिक, अधिभौतिक (अध्यात्म तथा भूत दोनों से सम्बन्धित)।

५. आध्यात्मिक, आधिदैविक (आध्यात्मिक तथा प्राकृतिक तत्त्वों से सम्बन्धित)।

६. आधिदैविक, आधिभौनिक (प्राकृतिक तत्त्व तथा भूत दोनों से सम्बन्धित)।

७. आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक (अध्यात्म, प्राकृतिक तत्त्व तथा भूत तीनों से सम्बन्धित)।

८. मिथ्याकल्पित—इनमें मिथ्याकल्पित आख्यान की कल्पना खगोलीय नक्षत्रादि के परिज्ञानार्थ की गई है जैसे प्रजापति का अपनी पुत्री का अनुधावन आदि।

गाथा—वेदमन्त्रों से भी अधिक प्राचीन श्लोकविशेष जिनमें मन्त्र के लक्षण का समन्वय नहीं है, गाथा कहलाते हैं।

कल्पशुद्धि—विधिक्रम को कल्प कहते हैं। यह विधिक्रम-रूप कल्प—श्रौत, स्मार्त (गृह्य) सामयिक तथा आचारिक (आचार सम्बन्धित) भेद से चार प्रकार का है। इन श्रौत, स्मार्त, सामयिक तथा आचारिक विधिक्रमों का विवेचन द्वारा परिशोधन (सम्यग् निर्णय) ही कल्पशुद्धि कहलाती है। श्रौत, स्मार्त आदि कल्पशुद्धि के इतिहास से सम्बन्धित न होने पर भी प्रश्न तथा उत्तर द्वारा उनका

इतिहास में संनिवेश हो सकता है, अतः इनका भी पुराणविद्या में प्रदर्शन कर दिया गया है।

सावर्णिकृत पुराणसंहिता में सभी दर्शनविद्याओं, कतिपय कलाओं, परीक्षाविषयों, आगमविषयों तथा नीतिविषयों का संग्रह कर संनिवेश किया गया है।

कश्यपकृत पुराणसंहिता में वेदोपबृंहण, पुराणावतरण आदि विषयों का संनिवेश है।

उपर्युक्त रीति से लोमहर्षण, शांशपायन, सावर्णि तथा कश्यप के द्वारा प्रणीत चारों पुराण संहितायें सूतशौनकसंवादसिद्ध १८ पुराणग्रन्थों की मूलभूत संहितायें कहलाती हैं।

इस प्रकार पुरासंहिताओं की तीन श्रेणियाँ हो जाती हैं—

१. बादरायणकृत पुराणसंहिता—प्रथम श्रेणि।

२. लोमहर्षण, शांशपायन, सावर्णि, कश्यपविरचित पुराण-संहितायें—द्वितीय श्रेणि।

३. नैमिषारण्य में सूतशौनकसंवादसिद्ध १८ पुराणग्रन्थ—तृतीय श्रेणि।

पुराणविद्या के प्रचार के लिए भगवान् वेदव्यास के द्वारा नियुक्त लोमहर्षण एक बार देशों में भ्रमण करते हुए नैमिषारण्य पहुंचे। वहाँ ८४ हजार शिष्यों के साथ भगवान् शौनक ऋषि सहस्र-वार्षिक नाम से प्रसिद्ध त्रिवर्षीय सत्र का अनुष्ठान करते हुए नियत क्षेत्र में रह रहे थे। उन्होंने लोमहर्षण को आते देखकर अति हर्ष से स्वागत किया और वेदव्यासप्रणीत १८ पुराणों को सुनाने की उनसे प्रार्थना की। लोमहर्षण को सुनाने के लिए उद्यत देखकर, नवीन विद्या के श्रवण को एक धार्मिक कृत्य समझ कर शुभ मुहूर्त में कथा आरम्भ करने की इच्छा शौनक ने की। शुभ मुहूर्त का विचार करने पर आषाढ शुक्ला पूर्णिमा शुभ मुहूर्त प्रतीत हुआ। उस दिन शौनकजी ने पुराणकथायें सुनने के लिए महान् आयोजन किया। किन्तु लोमहर्षण सूत जाति का है। अतः गुरु बनाने के योग्य नहीं है। ऐसी शिष्यों की विचारधारा के कारण कुछ समय तक कथा प्रारम्भ नहीं की जा सकी।

किन्तु नीच जाति वाले से उत्तम शिक्षा ग्रहण कर लेनी चाहिए। इस मनुवचन के अनुरोध से अद्वितीय विद्या को जानने वाला शूद्र भी गुरु बनाने योग्य है, किन्तु उसके पैर दबाना तथा उसका उच्छिष्ट भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिए, ऐसा शौनकजी का आग्रह था। अतः आषाढ शुक्ला पूर्णिमा के दिन शुभ मुहूर्त में उसे गुरु स्वीकार कर शौनकादि ने लोमहर्षण की गुरुरूप से पूजा की। तदनन्तर लोमहर्षण ने पुराणकथा सुनाना प्रारम्भ किया। किन्तु वेदव्यासजी द्वारा कथित क्रम के अनुसार कथा सुनाना प्रारम्भ करने पर भी शौनकादि श्रोताओं के द्वारा बीच-बीच में अनेक प्रश्न तथा समाधान करने पर लोमहर्षण द्वारा सुनाई कथा का क्रम वेदव्यासोक्त कथाक्रम से परिवर्तित हो गया। लोमहर्षण शौनकादि के प्रश्नों का उत्तर देते हुए जिस क्रम से दिन में कथा सुनाता था उसी नवीन क्रम से वह उसको लिखता गया। इस प्रकार लोमहर्षण द्वारा नवीन क्रम से प्रणीत पुराणग्रन्थ बन गए। लोमहर्षण ने इस तरह ब्रह्मादि पुराणों का श्रवण करा कर ८वें अग्निपुराण को सुनाना प्रारम्भ किया। उस समय द्वारकानिवासी बलरामजी घूमते हुए वहाँ आ गये। सूत-जातीय लोमहर्षण को शूद्र मानकर ब्राह्मणों को कथा सुनाते हुए देख कर उस पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए। और उसके कारण का विचार न करते हुए सहसा मूसल का प्रहार कर लोमहर्षण को मार दिया। इस प्रकार लोमहर्षण के मारे जाने पर भगवान् शौनक बलरामजी पर अत्यन्त कुपित हुए और कहा कि तुमने मेरे गुरु को क्यों मारा? बलरामजी ने उत्तर दिया कि मैं इस लोमहर्षण को जानता हूँ, यह सूत जाति का है और शूद्र है। यह आप ब्राह्मणों के साथ शिष्य के समान आचरण कर रहा था, क्योंकि गुरु के आसन पर बैठकर कथा सुना रहा था। इस अधर्मकार्य को देखकर मुझे क्रोध आ गया, अतः मैंने मार दिया।

तब भगवान् शौनक ने कहा कि यह अधर्म नहीं है कि नीच जाति का पुरुष ब्राह्मणों को शिक्षा दे। क्योंकि मनु आदि स्मृतिकारों ने कहा है कि नीच से भी उत्तमविद्या ग्रहण करनी चाहिए। अतः उत्तमविद्या की शिक्षा देने वाला शूद्र भी गुरुपद के योग्य है। वेद-व्यासजी द्वारा प्रवर्तित परमोत्तम पुराणविद्या को इसके अतिरिक्त कोई नहीं जानता। इसलिए हम लोगों ने इन्हें गुरु बनने की प्रार्थना की थी। आपने हमारे गुरु को मार कर महान् अनर्थ किया है। इस

प्रकार शौनकादि के द्वारा बलरामजी की भर्त्सना करने पर बलराम जी अपने दोष को समझकर लज्जित हो गए और उन्होंने शौनकादि से प्रार्थना की कि इस लोमहर्षण का पुत्र उग्रश्रवा इससे भी अधिक पुराणविद्या का ज्ञाता है। इसलिए मैं उसको बुलाता हूँ। वह यहाँ आकर आपको पुराणकथा सुनायेगा। इस प्रकार ब्राह्मणों को सान्त्वना देकर अपने नौकर के द्वारा पञ्चनदप्रान्तनिवासी उग्रश्रवा को शीघ्र बुलाकर उसे गुरुपद पर नियुक्त किया।

उग्रश्रवा बहुश्रुत तथा ६ गुरुओं का शिष्य होने से यद्यपि लोमहर्षण से भी अधिक पुराणविद्या का ज्ञाता था। तथापि उसके युवा होने के कारण शौनक को सन्देह था कि यह अपने पिता के समान पुराणविद्या का जानकार है या नहीं। इस बात को जानने के लिए उसने कहा, कि लोमहर्षण से सुने हुए कतिपय पुराणों के कुछ भागों को आप हमें सुनाइये। उससे हमें मालूम हो जायगा कि आपको पुराणविद्या का कितना ज्ञान है? तब हम आपका गुरुपद पर अभिषेक करेंगे। उग्रश्रवा ने इस बात को स्वीकार किया। तब भगवान् शौनक ने प्रथम ब्रह्मपुराण को छोड़कर द्वितीय पद्मपुराण सुनाने के लिए कहा। उग्रश्रवा ने शौनकादि को पद्मपुराण सुनाया। किन्तु शौनकादिकृत प्रश्नों के समाधान से लोमहर्षण द्वारा सुनाये हुए पद्मपुराण से उग्रश्रवा के सुनाये हुए पद्मपुराण में कुछ क्रमविपर्यास हो गया। उग्रश्रवा भी जो दिन में शौनकादि को सुनाता था उसे उसी प्रकार लिख लेता था। इस प्रकार दोनों के सुनाये हुए पद्मपुराण में क्रमविपर्यास के कारण पद्मपुराण के दो भेद हो गए। एक लोमहर्षणकृत पद्मपुराण तथा दूसरा उग्रश्रवाविरचित पद्मपुराण।

किन्तु दोनों के द्वारा विरचित पद्मपुराणों का नाम एक ही रहा जैसे चतुःश्लोकी भागवत, सप्तश्लोकी भागवत, अट्ठारह हजार श्लोकों वाली, लोमहर्षण के द्वारा प्रोक्त भागवत तथा उग्रश्रवा के द्वारा विरचित अट्ठारह हजार श्लोकों में निबद्ध भागवत भिन्न-भिन्न हैं तो भी उनके नामों में कोई भेद नहीं है। सभी एक ही भागवत नाम से व्यवहृत होती हैं। यही स्थिति लोमहर्षण द्वारा विरचित तथा उग्रश्रवा द्वारा विरचित पद्मपुराणों की है।

इसी प्रकार तृतीय विष्णुपुराण को छोड़कर चतुर्थ वायुपुराण का शौनकादि ने श्रवण किया। उसमें भी शौनकादि के प्रश्नों

के तथा उनके समाधान के कारण सन्दर्भभेद हो जाने से उसके भी दो भेद हो गए। उनमें लोमहर्षणकृत पुराण की वायुपुराण संज्ञा तथा उग्रश्रवाविरचित की शिवपुराण संज्ञा हुई। इसीलिए पुराण-गणनाप्रसंग में कहीं चतुर्थपुराण को वायुपुराण और कहीं शिवपुराण कहा गया है। इसी प्रकार पञ्चम भागवतपुराण को छोड़ कर छठे नारदपुराण के उग्रश्रवा के सुनाने पर उसमें शौनकादि के प्रश्नों के कारण सन्दर्भभेद हो जाने से इसके भी दो भेद हो गये, एक लोमहर्षण-विरचित तथा दूसरा उग्रश्रवाविरचित। उनमें लोमहर्षणविरचित पुराण की नारदपुराण संज्ञा तथा उग्रश्रवाविरचित की बृहन्नारदपुराण संज्ञा हुई। परन्तु इन दोनों में अधिक भेद नहीं है। उपर्युक्त रीति से उग्रश्रवा के द्वारा सुनाये हुए तीन पुराणों के सुन लेने पर शौनकादि की उग्रश्रवा पर श्रद्धा उत्पन्न हो गई कि उग्रश्रवा पुराणविद्या का उत्तम ज्ञाता है तब उसको गुरुपद पर अभिषिक्त कर अग्निपुराण आदि शेष पुराणों का उग्रश्रवा से श्रवण किया। उग्रश्रवा दिन में शौनकादि को जिस प्रकार पुराणों को सुनाता था उसी प्रकार रात्रि में उनको लिख लेता था। इस प्रकार षट्प्रश्नीसंदर्भ से १८ पुराणों की रचना हो गई। वे ही पुराणग्रन्थ आज पुराणनाम से उपलब्ध हैं। इन पुराणग्रन्थों के प्रभाव से व्यास द्वारा विरचित पुराणसंहिता तथा लोमहर्षण, शांशपायन, काश्यप व सावर्णि विरचित पुराणसंहितायें विलुप्त हो गईं। किन्तु लोमहर्षण तथा उग्रश्रवा विरचित पुराणग्रन्थों में वेद-व्यास, शांशपायन, काश्यप तथा सावर्णिविरचित पुराणसंहिताओं में निरूपित सभी विषय चरित्रों के द्वारा उपबृंहित रूप से विद्यमान हैं। अतः 'अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतः'। इस उक्ति में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। अर्थात् इन १८ पुराणग्रन्थों में सभी विषय वे ही हैं जिनका निरूपण वेदव्यासविरचित पुराणसंहिता में किया गया था।

भेद केवल इतना ही है कि वेदव्यासविरचित पुराणसंहिता १८ प्रकरणों में विभक्त एक ही ग्रन्थ था। किन्तु लोमहर्षण तथा उग्रश्रवा विरचित, वर्तमान में उपलब्ध पुराण १८ ग्रन्थरूप हैं। इनमें द्वितीय पद्मपुराण, चतुर्थ वायुपुराण तथा षष्ठ नारदपुराण लोमहर्षण-विरचित तथा उग्रश्रवाविरचित भेद से दो दो प्रकार के हैं, पद्मपुराण को छोड़कर उनकी संज्ञा भी पृथक्-पृथक् है, यह ऊपर बतलाया जा

चुका है। किन्तु इससे पुराणों की अष्टादशविधता में कोई बाधा नहीं है। क्योंकि पुराणों की गणना में या तो लोमहर्षणविरचित पुराणों या उग्रश्रवाविरचित पुराणों में से एक की ही गणना होती है। क्योंकि दोनों द्वारा विरचित पुराणों में शौनकादि के प्रश्नों तथा उनके समाधान की पृथक्ता की छोड़कर मूलविषय का कोई भेद नहीं है। अतः पुराणों की गणना लोमहर्षण द्वारा विरचित या उग्रश्रवा द्वारा विरचित पुराणों में से किसी एक के पुराणग्रन्थों को लेकर करनी चाहिए।

पौराणिक पाँच लक्षणों का निरूपण

सृष्टि, प्रतिसृष्टि (प्रलय), वंश, मन्वन्तर तथा वंश्यानुचरित ये पांच लक्षण पुराण के हैं अर्थात् पुराणों में सृष्टि आदि पाँच तत्त्वों का प्रतिपादन है। [१]

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा तदुत्पन्न फल ये भी पाँच लक्षण पुराण के माने जाते हैं, अर्थात् पुराणों में धर्मादि पाँच तत्त्वों का निरूपण पाया जाता है। [२]

ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य, रुद्र इनकी महिमा तथा भुवन के संहार का प्रतिपादन भी पुराणों में है, अतः ये भी पुराण के पाँच लक्षण हैं। [३]

इनमें सृष्टि पुराणों का प्रधान प्रतिपाद्य है तथा प्रतिसृष्टि आदि गौणविषय हैं। अतः प्राधान्येन सृष्टिविद्या को ही पुराण कहा जाता है। सृष्टि के भेद से ही इस सृष्टि में परिच्छेदों की कल्पना की गई है।

पुराणों में उपर्युक्त रीति से—१. मन्वन्तरविज्ञान, २. सृष्टि-विज्ञान, ३. प्रतिसृष्टिविज्ञान, ४. वंशविज्ञान तथा ५. वंश्यानु-चरितविज्ञान—इन पाँच विषयों का निरूपण है।

इनमें से प्रत्येक विषय में पाँच-पाँच अवान्तर विषय हैं। जैसे—मन्वन्तरविज्ञान में—१. युग, २. दिव्ययुग, ३. नित्यकल्प, ४. सप्तकल्प, ५. त्रिंशत्कल्प—ये पाँच विषय हैं।

सृष्टिविज्ञान में—१. सृष्टिक्रम, २. सृष्टिविषयक भिन्न मत, ३. अवतार, ४. आयति (शरीरत्यागानन्तर भावी विज्ञान),

५. ब्रह्माण्ड—ये पाँच विषय हैं। इनमें आदि के ६ पुराणों (ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, वायुपुराण, भागवतपुराण, नारदपुराण) में सृष्टिक्रम का निरूपण है, जिसका प्रतिपादन ब्रह्मादि पुराणों का निरूपण करते हुए किया जा चुका है। प्रकारान्तर से पुराण का यह प्रथम विभाग ६ अवयव वाला है।

सृष्टिकारणताविषयक भिन्न मतों का प्रतिपादन करने वाला द्वितीय विभाग है। इस द्वितीय विभाग का निरूपण पहिले किया जा चुका है किन्तु प्रसङ्ग आजाने से उसका पुनः प्रतिपादन किया जारहा है। सृष्टिविषयक चार मत हैं—

गुणत्रयात्मक प्रकृति से सृष्टि मानने वाला प्रथम मत है। इसका निरूपण मार्कण्डेयपुराण में हुआ है। 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इस श्रुति के अनुसार अग्नि से सृष्टिका प्रतिपादन करने वाला द्वितीय मत है। इसका प्रतिपादन अग्निपुराण के द्वारा किया गया है। यद्यपि उपर्युक्त श्रुति से अग्नि व सोम दोनों में सृष्टिकारणता सिद्ध है। किन्तु इन दोनों में अग्नि अत्ता है सोम अन्न है। आद्य की अत्ता में, अर्थात् सोम की आहुति अग्नि में होने पर सोम अग्नि ही बन जाता है। अतः अग्नि के ही प्रधान होने से अग्नि को ही सृष्टि का कारण माना है।

कतिपय विद्वान् सूर्य से ही सृष्टि बतलाते हैं। जैसा कि—'अस्यैके सूर्यमेवैकं प्रभवं प्रलयं विदुः। सूर्याग्नितः प्रजायेते अग्नी मध्यमपार्थिवौ।' इस बृहद्देवतावचन में बतलाया गया है। इस मत का प्रतिपादन भविष्यपुराण में किया गया है।

'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार सकल प्रपञ्च ब्रह्ममय है अर्थात् ब्रह्म ही सकल सृष्टि का कारण है। किन्तु असंग ब्रह्म से सृष्टि संभव नहीं। अतः सृष्टि भ्रान्तिकल्पित है अर्थात् ब्रह्म का विवर्त है, ऐसा एक मत है। इस मत का निरूपण ब्रह्मवैवर्तपुराण में किया गया है। इस तरह मार्कण्डेयपुराण, अग्निपुराण, भविष्य पुराण तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण इन चार पुराणों में सृष्टिकारणताविषयक चार मतों का प्रतिपादन है।

यद्यपि सृष्टि का प्रधान कारण भगवान् प्रजापति है, किन्तु सृष्टि के कतिपय अवान्तर कारण भी हैं, जो कि प्रजापति के अवतार कहलाते हैं। वे हैं—

१. महद्ब्रह्मसंज्ञक अक्षर जिसे लिङ्ग भी कहा जाता है, क्योंकि सभी कार्यों का लय उसी में होता है। २. वराह नामक वायु जो कि पृथ्वीशब्दवाच्य क्षरपिण्डों का उत्पादक है। ३. स्कन्दनामक कुमाराग्नि, ४. वामनापरपर्याय त्रिविक्रम विष्णु, ५. कूर्मापरपर्याय कश्यप (सूर्य), ६. मत्स्य। लिङ्ग से लेकर मत्स्य तक के पुराणों में सृष्टि के अवान्तर कारणों का स्वरूप पहिले लिङ्गादिपुराणों के निरूपण के प्रसङ्ग में बतलाया जा चुका है। इन्हीं ६ अवान्तर कारणों का प्रतिपादन क्रमशः लिङ्गपुराण, वराहपुराण, स्कन्दपुराण, वामनपुराण, कूर्मपुराण, व मत्स्यपुराण में किया गया है।

जीवित प्राणी की देहत्यागानन्तर क्या गति होगी? इसका निरूपण गरुडपुराण में किया गया है। देहत्यागानन्तर प्राणी को क्या फल मिलेगा? इसे ही, उस फल के उत्तरकालभावी होने से आयति शब्द से व्यपदिष्ट किया है।

सृष्टि के आयतनरूप पञ्चम विषय का प्रतिपादन ब्रह्माण्ड-पुराण में किया गया है।

उपर्युक्त रीति से सृष्टिरूप पुराण लक्षण में भी पाँच विषयों का प्रतिपादन है।

आदि के ६ पुराणों में सृष्टि के ६ पर्वों का निरूपण, तदनन्तर ४ पुराणों में सृष्टिकारणविषयक चार मतों का, तत्पश्चात् ६ पुराणों में सृष्टि के ६ अवान्तर कारणों का, पश्चात् १ पुराण में परलोकगति का तथा अन्तिम पुराण में सृष्टि के आयतन का निरूपण है।

अथवा-आदिसृष्टि ६ पर्व वाली है उसका आदि के ६ पुराणों में, मध्यम सृष्टि चार प्रकार की है उसका निरूपण आगे के ४ पुराणों में, उत्तरसृष्टि ६ प्रकार की है उसका निरूपण आगे के ६ पुराणों में, प्रेतसृष्टि का प्रतिपादन तदुत्तरवर्ती पुराण में तथा सृष्टिस्थान का निरूपण अन्तिम पुराण में है। इस रीति से सृष्टि के विभिन्न तत्वों के प्रतिपादक १८ अवयवों वाली एक पुराणसंहिता या पुराणशास्त्र है।

प्रतिसृष्टि

प्रतिसृष्टिरूप पुराणलक्षण भी शास्त्रावतरण, कल्पशुद्धि, सृष्ट्युपसंहार, ज्योतिश्चक्र तथा भुवनकोश भेद से पञ्चविध है या

पञ्चलक्षणात्मक है। त्रैलोक्यरूप विश्व का विज्ञान, ज्योतिश्चक्र (खगोलविज्ञान), भुवनकोश (भूगोलविज्ञान) प्रासङ्गिक तथा वंशावली भेद से भी पुराण पांच प्रकार का है। इनमें प्रश्नोत्तररूप से पठित प्रासङ्गिक—आख्यान, उपाख्यान, गाथा, कल्पशुद्धि भेद से चार प्रकार का है।

श्रौत व स्मार्त सिद्धान्त, आचार, धर्मभेद, नाना उपासनाभेद व नाना दर्शनभेद कल्पशुद्धि कहलाते हैं।

जैसा कि पुराणोत्पत्तिप्रसङ्ग में श्रद्धेय गुरुवर्य ने कहा है:—

आख्यानोपाख्याने गाथा अथ कल्पशुद्धिश्च।
प्रासङ्गिकं चतुर्धा प्रश्नसमाधिप्रसङ्गतोऽधीतम्॥
श्रौतः स्मार्तः समयश्चाचारो धर्मभेदास्ते।
नानोपासनभेदा दर्शनभेदाश्च कल्पशुद्धिरिह॥

वंशावली तीन प्रकार की है। १. स्वायंभुवादि ६ मनुवंश, २. वैवस्वत मनुवंश, ३. सूर्याग्निचन्द्रभेदभिन्न वंश। इसीलिए पुराण-समीक्षा में कहा है:—

स्वायंभुवादिषण्मनुवंशाः, वैवस्वतोऽथ मनुवंशः।
सूर्याग्निचन्द्रभेदा त्रिविधा वंशावली ग्रन्थे॥ इति।

ग्रहों तथा नक्षत्रों का ज्ञान, ताराविज्ञान, खगोलविज्ञान तथा तारा नदी आदि में स्मरणार्थ मानव, देव आदि के चरित्र की कल्पना ज्योतिश्चक्र कहलाता है। जैसे:—

ग्रहनक्षत्रज्ञानं ताराविज्ञानखगोलविज्ञाने।
स्मारकचरित्रक्लृप्तिर्ज्योतिश्चक्रं खगोलविद्यास्ति॥ पु. समीक्षा

इलावृत, किम्पुरुष आदि वर्षों का विभाग, गिरि, वन, समुद्र, नदी, सरोवर, आखात (परिखा) नगर, स्थान, आवास तथा पृथ्वी का परिमाण भुवनकोश कहलाता है। जैसे:—

वर्षविभागो गिरिवनसमुद्रनद्यः सरांसि चाखाताः।
नगरस्थानावासा भूमितिरित्थं च भुवनकोशोऽस्ति॥ पु.समीक्षा

पुराणसमीक्षा ग्रन्थ में प्रतिसृष्टि के अनुसृष्टि तथा उत्सृष्टि भेद से दो प्रकार बतलाये हैं। उनमें अनुसृष्टि—भुवनकोश तथा ज्योतिश्चक्र भेद से द्विविध है। जैसे—

अनुसृष्टिरुत्सृष्टिश्चेति द्विविधा प्रतिसृष्टिरीरिता ।
भुवनकोशो ज्योतिश्चक्रं चेति द्विविधा अनुसृष्टिः ।।

इसी प्रकार धर्मानुसृष्टिलक्षण सृष्टि भी प्रतिसृष्टि है ।

इसीलिए प्रकारान्तर से प्रतिसृष्टि के भेद बतलाते हुए गुरुवर्य ने धर्मानुसृष्टिलक्षण सृष्टि को भी प्रतिसृष्टि का एक भेद स्वीकार किया है । प्रकारान्तर से प्रतिसृष्टि के ५ भेद निम्नलिखित हैं—

१. प्रतिसञ्चरलक्षण प्रतिसृष्टि ।
२. त्रिविध (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) बन्ध से उन्मुक्तिरूप प्रतिसृष्टि ।
३. भुवनकोशानुसृष्टिलक्षण प्रतिसृष्टि ।
४. ज्योतिश्चक्रानुसृष्टिलक्षण प्रतिसृष्टि ।
५. धर्मानुसृष्टिलक्षण प्रतिसृष्टि ।

पुराणसमीक्षा के निम्न श्लोक में इन्हीं पञ्चविध प्रतिसृष्टियों को पञ्चलक्षण पुराण कहा है—

ज्योतिश्चक्रं भुवनकोशः प्रतिसञ्चर एव च ।
धर्मशुद्धिर्बन्धमोक्षः पुराणं पञ्चलक्षणम् ।।

वंश

वंशरूप पुराणलक्षण भी—ऋषिवंश, पितृवंश, सूर्यवंश, चन्द्रवंश, अग्निवंश भेद से पञ्चलक्षणात्मक है ।

वंश्यानुचरित

वंश्यानुचरितरूप पुराणलक्षण भी—ऋषिचरित, देवयोनिचरित, सूर्यवंशचरित, चन्द्रवंशचरित, अग्निवंशचरित भेद से पञ्चलक्षणात्मक है ।

इस प्रकार वेद में विद्यमान, नाना विभाग युक्त पाँचों विद्याविभागों का निरूपक पुराणशास्त्र है ।

मन्वन्तरविभागे	सृष्टिविभागे	प्रतिसृष्टिविभागे	वंशविभागे	वंश्यानुचरितविभागे
युगम्	सृष्टिः प्रथमा षट्पर्वा	ज्योतिश्चक्रम्	ऋषिवंशः	ऋषिचरितम्
दिव्ययुगम्	सृष्टिर्मध्यमा चतुर्विधा	शास्त्रानुव्यूहः	पितृवंशः	देवयोनिचरितम्
नित्यकल्पः	सृष्टिरुत्तरा षड्विधा	भुवनकोशः	सूर्य्यवंशः	सूर्य्यवंशचरितम्
सप्तकल्पाः	संपरायसृष्टिः	कल्पशुद्धिः	चन्द्रवंशः	चन्द्रवंशचरितम्
त्रिंशत्कल्पाः	सृष्टीनामायतनम्	सृष्ट्युपसंहारः	अग्निवंशः	अग्निवंशचरितम्

एषां विद्याविभागानां पञ्चानां वेदवर्तिनाम् ।
नानाभक्तिविभक्तानां पुराणं नाम कल्पते ।।

इति पौराणिकपञ्चलक्षणनिरुक्तिः ।

पौराणिक आयुर्विचार

वेदार्थ के प्रकाशक पुराणों में कुछ ऐसी बातों का निरूपण है जिनके कारण लोगों की उन पर अश्रद्धा हो जाती है तथा उन्हें अप्रामाणिक या गप्प ग्रन्थ कह देते हैं। उन्हीं बातों में मनुष्यों की बहुत अधिक आयु का प्रतिपादन भी है। जैसे 'षष्टिवर्षसहस्राणि चचार परमं तपः' इस वचन में ऋषि ने ६० हजार वर्ष तपस्या की। ऐसे ही जब विश्वामित्र राक्षसों से अपने यज्ञ की रक्षा के लिए राम व लक्ष्मण को मांगने को आये उस समय 'षष्टिर्वर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक' अर्थात् ६० हजार वर्ष की आयु बीतने पर मुझे ये पुत्र प्राप्त हुए हैं, यह दशरथ की उक्ति। इसी प्रकार राम के राज्यकाल का निरूपण करते हुए रामायण में लिखा है—

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान् रामो राज्यमचीकरत्॥

अर्थात् राम ने ११ हजार वर्ष तक पृथिवी पर राज्य किया। उपर्युक्त वचनों में मनुष्य की आयु हजारों वर्षों की बतलाई गई है। जबकि मनुष्य की इतनी आयु न किसी प्रमाण से सिद्ध है और न अनुभव-सिद्ध ही है। अतः आर्यसमाजी विद्वानों ने तथा उनके अनुयायी विद्वानों ने पुराणों को गपोड़ ग्रन्थ की संज्ञा दे दी है और उन्हें अप्रामाणिक व अनार्ष ग्रन्थ मान लिया है। किन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। पुराण आख्यानों व विभिन्न चरित्रों के वर्णन द्वारा वेदार्थ के उपबृंहक व परिपोषक माने गये हैं। भगवान् वेदव्यास ने जब यज्ञकर्म में विनियुक्त विभिन्न ऋत्विजों के कार्य की दृष्टि से तथा बुद्धिमान्द्य के कारण बृहद् वेद ग्रन्थ का एक मनुष्य के द्वारा पूर्णरूप से अध्ययन अशक्य होने से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद भेद से उसे चार भागों में विभक्त कर दिया और उन वेदों को क्रमशः पैल, वैशम्पायन, जैमिनि तथा सुमन्तु को पढ़ाया। किन्तु जिन लोगों को 'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा' इस वचन के अनुसार वेदाध्ययन का अधिकार नहीं था उन स्त्री, शूद्र और द्विजबन्धुओं के लिए वेदार्थज्ञान के लिए वेदार्थप्रकाशक पुराणसंहिता का निर्माण किया और उसका अध्यापन लोमहर्षण को करवाया।[1] इससे स्पष्ट

---

१. पराशरसुतो व्यासः कृष्णद्वैपायनोऽभवत्।
स एव सर्ववेदानां पुराणानां प्रदर्शकः॥

सिद्ध है कि पुराण व इतिहास भी वेदार्थ के ही प्रकाशक हैं। इसीलिए अभियुक्तों ने कहा है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥ इति ॥

वेदों की तरह पुराणों के भी वेदार्थ का प्रतिपादक होने से अप्रामाणिक तथा अश्रद्धेय नहीं माना जा सकता। किन्तु उनमें जो चीजें अप्रामाणिक प्रतीत होती हैं उसका कारण पुराणों की परिभाषा का न जानना ही है। परिभाषाओं को न जानने के कारण पुराणों में वर्णित कुछ बातें अप्रामाणिक व अश्रद्धेय प्रतीत होती हैं।

प्रत्येक शास्त्र में कुछ स्वशास्त्रसंकेतित परिभाषायें होती हैं। उस शास्त्र के सम्यक् परिज्ञान के लिए उन परिभाषाओं का ज्ञान अत्यावश्यक है। जैसे न्याशास्त्र में गुणशब्द द्रव्याश्रित तत्त्व को बतलाता है और सांख्यशास्त्र में गुणशब्द जगत् के उपादानभूत सत्व, रज व तम इन द्रव्यों को बतलाता है न कि द्रव्याश्रित तत्त्व को। क्योंकि सांख्यशास्त्र के अनुसार सकल प्रपञ्च का उपादान कारण प्रकृति है। और प्रकृति सत्व, रज, तम इन तीन गुणों की समष्टि ही है। अतः सांख्यशास्त्र के अनुसार सत्वादि तीनों गुण जगत् के उपादानभूत द्रव्य हैं। इसी प्रकार पुराणशास्त्र की भी अपनी परिभाषाएँ हैं। उनके ज्ञान के बिना पुराणशास्त्र का सम्यग् बोध नहीं हो सकता।

पुराणों में प्रतिपादित मनुष्यों की व ऋषियों की आयु के सम्बन्ध में भी यही नियम लागू होता है। पुराणों में मनुष्यों की जो हजारों वर्षों की आयु बतलाई है उसमें वर्ष शब्द का पुराणशास्त्र-संकेतित पारिभाषिक अर्थ है। उसका ज्ञान हो जाने पर उसका सम्यग्बोध हो सकता है और आधुनिक लोग जो पुराणों पर

अथ शिष्यान् स जग्राह चतुरो वेदपारगान्।
जैमिनिं च सुमन्तुं च पञ्चमं मां महामुनिः ॥
ऋग्वेदपाठकं पैलं जग्राह स महामुनिः।
यजुर्वेदप्रवक्तारं वैशम्पायनमेव च।
जैमिनिं सामवेदस्य पाठकं सोऽन्वपद्यत ॥
तथैवाथर्ववेदस्य सुमन्तुमृषिसत्तमम्।
इतिहासपुराणानि प्रवक्तुं माम् (लोमहर्षणम्) अयोजयत् ॥

आयुर्विषयक आक्षेप करते हैं उसका पूर्णतया परिहार हो जाता है। इस प्रकरण में उसी पर विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

मनुष्य की आयु साधारणतया १०० वर्ष की मानी गई है "शतायुर्वै पुरुषः," "पश्येम शरदःशतम्, जीवेम शरदः शतम्"

'शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तान् शतमु बसन्तान्।
शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषेमं पुनर्दुः' ॥

इत्यादि श्रुतिवचन तथा आशीर्वादवचन 'मनुष्य की आयु १०० वर्ष की होती है' इसी बात को सिद्ध कर रहे हैं।

कितने ही विद्वान् 'अपि हि शताद् भूयांसि वर्षेभ्यो जीवति' इस श्रुति का प्रमाणरूप से उपन्यास करते हुए हजारों वर्ष मनुष्य की आयु सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, किन्तु उनका यह प्रयास अविचारपूर्ण है, क्योंकि ऐसा मानने में उपर्युक्त श्रुतिवचनों का एवं लौकिक अनुभव का विरोध होता है। और 'शताद् भूयांसि वर्षेभ्यो जीवति' यह श्रुति भी मनुष्य सौ वर्ष से अधिक जी सकता है इसी बात को बतला रही है न कि मनुष्य की आयु १००० वर्ष की होती है इस बात को सिद्ध कर रही है। इसीलिये ऐतरेय श्रुति में 'स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्' इस वचन के द्वारा ११६ वर्ष अर्थात् १०० से कुछ अधिक वर्ष का जीवनकाल ही महिदास का बतलाया गया है न कि १००० वर्ष का। लौकिक अनुभव भी इसी बात की पुष्टि कर रहा है। इसके अतिरिक्त—"संवत्शरशतं नणां परमायुर्निरूपितम्" (भागवत स्कन्ध ३, अ० १११, श्लोक १२) "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः, (ईशोपनिषद्) इत्यादि श्रुतिस्मृतियाँ भी मनुष्य को शतायु ही सिद्ध कर रही हैं।

'शतं जीव शरदो वर्द्धमानः, इत्यादि श्रुतियों में शत शब्द को असंख्यातवाची मानकर मनुष्य की १००० वर्ष की आयु सिद्ध करने का प्रयास भी नितान्त अविवेकपूर्ण है, क्योंकि शत का असंख्यात अर्थ प्रमाणविरुद्ध है एवं शब्दशक्तिविरुद्ध भी है। अतः मनुष्य की आयु किसी भी दशा में एक हजार वर्ष की नहीं होती। इसीलिये तापश्चितसत्र-ब्राह्मण में 'उप तं यज्ञक्रतुं जानीत यः सहस्रसंवत्सरस्य प्रतिमा ? को हि तस्मै मनुष्यो यः सहस्रसंवत्सरेण समाप्नुयात्'। इस वचन के द्वारा सहस्रसंवत्सरसाध्य यज्ञ की समाप्ति मनुष्य नहीं कर सकता यह बतलाया है।

कुछ व्यक्ति ऐसा मानते हैं कि 'शतायुर्वै पुरुषः' यह श्रुति मनुष्य की १०० वर्ष की आयु बतला रही है, किन्तु यह कलियुग में मनुष्यों की आयु है। कृतादियुगों में मनुष्य की आयु इससे बहुत अधिक होती थी। क्योंकि युगभेद से मनुष्यों की आयु में न्यूनाधिकता होती रहती है। इसीलिये भगवान् मनु ने कृतादियुगभेद से मनुष्यों की आयु भिन्न भिन्न बतलाई है।[1] तथा मनुष्य की सौ वर्ष की आयु कलियुग में ही सिद्ध की है। कृतादियुगों में क्रमशः मनुष्य की आयु ४००, ३००, २०० वर्ष की बतलाई है। और भले ही साधारण मनुष्यों की आयु १०० वर्ष की ही क्यों न हो किन्तु मनुष्य ऋषियों की आयु हजारों वर्ष की हो सकती है। किन्तु उनका यह कथन भी प्रमाण की कसौटी पर कसने से अप्रामाणिक ही ठहरता है, क्योंकि अन्यत्र श्रुतियों, स्मृतियों व लोक में कहीं भी ४०० वर्ष की आयु मनुष्य की उपलब्ध नहीं होती। अतः अन्य श्रुतिस्मृतियों के विरुद्ध होने के कारण मनु वचन को युगधर्मप्रशंसापरक मानना चाहिये। या उसका दूसरा अभिप्राय मानना चाहिये। अथवा योगमहिमा से योगियों की ४०० वर्ष की आयु मानी भी जा सकती है किन्तु १००० वर्ष की आयु तो मनुष्य की किसी भी तरह किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकती। इस विषय में भगवान् जैमिनि व भाष्यकार शाबर का मत भी नीचे उद्धृत किया जा रहा है।

वेदप्रतिपादित सहस्रसंवत्सरसाध्य सत्र की समाप्ति मनुष्य द्वारा अशक्य होने से पूर्व मीमांसा में भगवान् जैमिनि[2] व भगवान् भाष्यकार शबरस्वामी ने उस सत्र में देवगन्धर्वादियों का अधिकार बतलाया है—और इस विषय[3] में श्रुति का भी प्रमाणतया उपन्यास किया है। इस तरह समाधान करने के बाद वस्तुतः यज्ञादिविधायक शास्त्र मनुष्यों के लिये ही प्रवत्त हुआ है अतः उसमें मनुष्य का ही अधिकार

---

१. अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ॥
कृते त्रेतादिषु ह्येषायायुर्ह्रसति पादशः ॥
वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम् ॥
फलं त्वनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥

२. सहस्रसंवत्सरं तदायुषामसम्भवान्मनुष्येषु। मीमांसासूत्र ६ अ०

३. "प्रजापतिं वै प्रजाः सृजमानं पाप्मा मृत्युरभिजघान। स तपोऽतप्यत सहस्रसंवत्सरान् पाप्मानं विजिहासन्"। इति।

होना चाहिये, इस तरह सहस्रसंवत्सरसाध्य सत्र में भी मनुष्यों का ही अधिकार बतलाया है। किन्तु ऐसा मानने पर यह आपत्ति आती है कि मनुष्यों की इतनी दीर्घ आयु होती नहीं जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है। आयुर्वेद में प्रतिपादित रसायनादिप्रयोग भी अग्नि के बढ़ाने में व वलीपलिततादि के नाश करने में एवं सुन्दरवर्ण, प्रसन्नता आदि के सम्पादन करने में ही समर्थ हैं न कि आयुर्वर्द्धन में। यदि उनसे आयु की वृद्धि होती तो 'शतायुर्वै पुरुषः' इत्यादि श्रुति पुरुष की आयु १०० वर्ष की न बतलाती। इसलिये च्यवनादि के उपाख्यान में इतना ही वर्णन मिलता है कि वे रसायन-सेवन से वृद्ध से युवा बन गये। अर्थात् उनके शरीर में वृद्धावस्था के धर्म वलीपालित्यादि नष्ट हो गये। किन्तु उनकी अवस्था बढ़ गई ऐसा वर्णन नहीं मिलता। यदि कहीं रसायनादिसेवन से किसी पुरुष की आयु-वृद्धि होती तो उस विशेषदर्शन से अन्यत्र भी 'रसायनादि आयुर्वृद्धि के कारण हैं' इसका अनुमान कर लिया जाता, परन्तु ऐसा कहीं देखा नहीं गया है। और फिर रसायनादि से आयु की वृद्धि मानी भी जाय तो थोड़ी बहुत मान सकते हैं। हजारों वर्ष की आयु तो रसायनादि से किसी प्रकार बढ़ नहीं सकती। इसीलिए "शतान्यायुः यस्य सः" ऐसा विग्रह मानकर सैकड़ों वर्ष जिसकी आयु होती है उसे शतायु कहते हैं इस प्रकार शतायु का अर्थ मानकर भी "शतायुर्वै पुरुषः" इस श्रुति से मनुष्यों को हजारों वर्ष की आयु नहीं मान सकते क्योंकि वैयाकरण द्विवचनान्त बहुवचनान्तों का समास ही नहीं स्वीकार करते हैं। अतः किसी भी प्रकार मनुष्य की सहस्र वर्ष की आयु सिद्ध न होने से सहस्रसंवत्सरसाध्य सत्रादि में मनुष्य का अधिकार किस तरह हो सकता है? यह शंका बनी रहती है।

इसका उत्तर मतभेद से जैमिनि ने दिया है। मनुष्य की सहस्रवर्ष की आयु न होने पर भी एक व्यक्ति द्वारा प्रारम्भ किये गये सहस्रसंवत्सरसाध्य सत्रादि की पूर्ति वही व्यक्ति नहीं करता, किन्तु उसके उत्तराधिकारी तद्वंशीय पुत्रादि करते हैं। अतः कुल की अपेक्षा से सहस्रसंवत्सर साध्य सत्र का विधान है न कि एक व्यक्ति की अपेक्षा से। ऐसा कार्ष्णाजिनि आचार्य मानते हैं।

सहस्रसंवत्सरसाध्य सत्र के सौ वर्ष की आयु वाले मनुष्य द्वारा साध्य न होने से मनुष्य के लिये उसका विधान करना अनुचित है

अतः यहां पर संवत्सरशब्द को सौराब्दपरक न मानकर लक्षणावृत्ति से चान्द्राब्द, नाक्षत्राब्द व पार्थिवाब्द में से अन्यतमपरक स्वीकार कर लेना चाहिये। ऐसा लाबुकायन आचार्य का मत है।

उनका तात्पर्य यह है कि संवत्सर का प्रयोग सौर संवत्सर ३६० दिन की तरह सावनाब्द, चान्द्राब्द (३०) नाक्षत्राब्द (२८ दिन) व पार्थिवाब्द (दिन रात) तथा दिन में भी होता है। जैसे 'यो वै मासः स संवत्सरः' इस श्रुति में मास को संवत्सर बतलाया गया है। 'द्वादश वै रात्रयः संवत्सरस्य प्रतिमाः' इस श्रुति में द्वादशाह के लिये संवत्सर शब्द का प्रयोग हुआ है, और 'आदित्यो वा सर्व ऋतवः स यदैवोदेत्यथ वसन्तो, यदा संगवोऽथ ग्रीष्मो, यदा माध्यन्दिनोऽथ वर्षाः, यदाऽपराह्णोऽथ शरत्, यदाऽस्तमेत्यथ हेमन्तशिशिरौ' इस श्रुति में दिन में ही कालभेद से ६ ऋतुओं की स्थिति बतलाकर दिन को ही षड्ऋतुमय संवत्सर सिद्ध किया है। इस तरह संवत्सरशब्द अनेकार्थक व अनियतार्थक है। इसके विपरीत सहस्र आदि शब्द एकार्थक व नियतार्थक हैं। सहस्रसंवत्सरसाध्य सत्र में दोनों शब्दों के वाच्य अर्थ की अनुपपत्ति होने से एक को लाक्षणिक (अन्यार्थक) मानना पड़ेगा। वहां नियतार्थक सहस्रादि शब्दों को लाक्षणिक मानने की अपेक्षा अनियतार्थक अतएव विचाली संवत्सरशब्द को ही लाक्षणिक मानना उचित है। अतः संवत्सरशब्द को यहां सौरसंवत्सरपरक न मान कर चान्द्रसंवत्सरपरक अथवा पार्थिवसंवत्सरपरक अथवा नाक्षत्रसंवत्सरपरक मान कर सहस्रसंवत्सरसाध्य सत्र का मनुष्य द्वारा अनुष्ठान मान लेना चाहिये, ऐसा लावुकायन आचार्य का अभिमत है।

किन्तु उपर्युक्त रीति से संवत्सर शब्द को लक्षणावृत्ति से अन्यार्थक मानने पर भी चान्द्रादि संवत्सरों में से किस अर्थ का बोधक इसे माना जाय यह संशय बना रहता है। प्रकरण द्वारा भी इसका निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि यहां एक ही अर्थ प्रकरणसिद्ध नहीं है, किन्तु मास, द्वादशाह व एकाह सभी अर्थ प्राकरणिक हैं जैसा कि ऊपर प्रदर्शित किया जा चुका है। इस शंका का समाधान करते हुए जैमिनि ने कहा है कि संवत्सर शब्द को यहां दिन अर्थात् पार्थिव संवत्सर का बोधक मानना चाहिये, क्योंकि वह प्राकरणिक भी है और इस सत्र में क्रियमाण त्रिवृत्, पञ्चदश आदि स्तोमों में त्रिवृत् आदि शब्द दिन के ही बोधक हैं, तथा दिनपरक मानने से ही यह सत्र

मनुष्यों द्वारा आसानी से किया भी जा सकता है। अतः उनने अन्त में 'अहानि वाऽभिसंख्यत्वात्' इस सूत्र के द्वारा संवत्सर शब्द को दिन-परक अर्थात् पार्थिव संवत्सरपरक ही स्वीकार किया है। और इस सहस्रवर्षसाध्य सत्र में शतायु पुरुषों का अधिकार बन जाता है।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि मनुष्यों की आयु १००० वर्ष की नहीं हो सकती। अन्यथा जैमिनिकृत उपर्युक्त शंका समाधान व्यर्थ होते। अतः जहाँ पर वसिष्ठादि ऋषियों के लिये हजारों वर्ष की तपश्चर्या का वर्णन मिलता है वहां संवत्सर शब्द को दिन का बोधक ही मानना चाहिये। ऐसे स्थलों में संवत्सर शब्द को दिनपरक मानने से 'षष्टिवर्षसहस्राणि चचार परमं तपः' इत्यादि वाक्यों में ८½ वर्ष का तपस्याकाल सिद्ध होता है क्योंकि 'षष्टिवर्ष-सहस्राणि' शब्द बहुवचनान्त है और बहुवचनान्त में सर्वप्रथम त्रित्व (तीन) संख्या आती है, अतः प्रथम प्राप्त होने से उसे ही स्वीकार कर लिया जाता है।

इस तरह 'वर्षसहस्राणि' शब्द ३००० संख्या का बोधक है। 'षष्टिवर्षसहस्राणि' समस्त पद होने से 'षष्टि' शब्द का 'वर्षसहस्राणि' पद के साथ 'षष्ट्यधिकानि वर्षसहस्राणि' ऐसा मध्यमपदलोपी तत्पुरुष समास है। जिसका अर्थ ६० अधिक तीन हजार वर्ष अर्थात् ३०६० वर्ष। जैसा कि ऊपर बतला दिया गया है कि यहाँ वर्ष शब्द पार्थिव वर्ष अर्थात् दिन का वाचक है। अतः ३०६० वर्ष का अर्थ है ३०६० दिन। ३०६० दिनों को सौर वर्ष बनाने के लिए ३०६० में ३६० का भाग देना होता है। और इस प्रकार षष्टिवर्षसहस्राणि का अर्थ ८ वर्ष ६ मास है। इतने ही वर्षों का तपस्याकाल वसिष्ठ का सिद्ध होता है।

इसी तरह "दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च" इस रामायण-वाक्य में उपर्युक्त रीति से संवत्सर शब्द को अहःपरक मानने से राम-

---

+३६०)३०६०(८ वर्ष
२८८०
३०) १८०(६ मास
१८०
×

राज्यकाल ३० वर्ष ६ मास २० दिन का सिद्ध होता है, क्योंकि कुल मिलाकर ११००० वर्ष राज्यभोगकाल रामायण में राम का बतलाया गया है और वहाँ वर्ष शब्द के दिन का वाचक होने से ११००० दिन राज्यकाल सिद्ध होता है, और ११००० दिन के ३० वर्ष ६ मास २० दिन होते हैं। किन्तु 'षष्टिर्वर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक'। इस रामायणवाक्य में वर्ष शब्द अहोरात्र का वाचक है और अहोरात्र पार्थिव संवत्सर है अतः इस में भी वर्षशब्द का प्रयोग बन ही सकता है। यहाँ षष्टि शब्द पृथक् है और वर्षसहस्र शब्द पृथक् है और षष्टि शब्द वर्षसहस्रशब्द का विशेषण है। वर्षसहस्र का अर्थ १ हजार वर्ष है और षष्टि (६०) को उसका विशेषण मानकर १००० से ६० को गुणा करने पर ६०००० वर्ष का काल सिद्ध होता है। वर्ष शब्द यहाँ अहोरात्र का वाचक है। अतः विश्वामित्र जब रामचन्द्र को यज्ञरक्षार्थ ले गये थे उस समय कुल मिलाकर ६०००० हजार अहोरात्र दशरथ की आयु सिद्ध होती है। इनमें तीस हजार दिन और तीस हजार रात हैं। अतः कुल ३०००० दिन ही दशरथ की आयु सिद्ध होती है, और[1] ३०००० दिन के केवल ८३ वर्ष होते हैं इस तरह उस समय दशरथ की आयु ८३ वर्ष ४ मास की थी, यह उपर्युक्त रामायणवाक्य का अर्थ है। पार्थिव संवत्सर दिन रात का होता है क्योंकि पृथ्वी एक दिन रात में ही सम्पूर्ण नक्षत्रचक्र का भोग कर लेती है और सम्पूर्ण नक्षत्रचक्र का भोग ही संवत्सर शब्द का अर्थ है। इसीलिये बृहस्पतिसंवत्सर, सूर्यसंवत्सर व पार्थिवसंवत्सर आदि परस्पर में विभिन्न परिमाण के हैं, क्योंकि उनका सम्पूर्ण नक्षत्रचक्र-भोगकाल परस्पर में विभिन्न है। जैसे सूर्य उसी नक्षत्रचक्र का भोग ३६० दिनों में करता है, चन्द्रमा २८ दिनों में और पृथिवी दिन रात में। इस तरह पार्थिव संवत्सर दिन रात का है, परन्तु कहीं दिन रात

= ३६०)११०००(३० वर्ष
१०८००
३०) २०० (६ मास
१८०
२० दिन

※ ३६०)३००००(८३ वर्ष
२८८०
१२००
१०८०
३०)१२०(४ मास
१२०
×

को मिलाकर अर्थात् एक मानकर उनका निर्देश किया गया है—जैसे 'षष्टिवर्षसहस्राणि चचार परमं तपः' इस वाक्य में। और कहीं पर उनको पृथक् पृथक् मानकर निर्देश किया जाता है—जैसे 'षष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक' इस वचन में। अतः यहाँ पर वर्षपरिगणन करते समय हमें उनको आधा करना पड़ता है, क्योंकि वह संख्या दिन रात दोनों को मिला कर होती है, और पार्थिव संवत्सर चूंकि दिन रात का एक होता है अतः उस संख्या का आधा करना आवश्यक है।

इस तरह वर्ष शब्द अनेकार्थक है। पौराणिकों ने भी उसका भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया है अतः पुराणों का अर्थ करते समय उसका ठीक विचार कर जहाँ जो संगत हो उसी अर्थ का बोधक वर्षादि शब्दों को मानना चाहिये। इस तरह मनुष्य महर्षियों का जहाँ हजारों वर्ष का तपस्याकाल बतलाया गया है उस जगह पार्थिव संवत्सर का ग्रहण करना चाहिये। और यदि सौरसंवत्सर मानकर ही इन वचनों का समन्वय करना अभीष्ट हो तो असल्लक्षण नित्य प्राण ऋषियों का ग्रहण करना चाहिये न कि तत्प्राणद्रष्टा मनुष्य ऋषियों का। यही निष्कर्ष आधिदैविकाध्याय के आयुर्दायचिन्ताधिकार में बतलाया गया है।

पौराणिक असदाख्यान

पुराणों में, आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिकादिभेद-भिन्न ८ प्रकार के आख्यानों का निरूपण है। इन ८ प्रकार के आख्यानों का उल्लेख, शांशपायन ने स्वप्रणीत पुराणसंहिता में भगवान् वेदव्यास व उनके शिष्य लोमहर्षण द्वारा प्रणीत पुराण-संहिताओं में निरूपित विषयों से अतिरिक्त आख्यान, उपाख्यान, गाथा, कल्पशुद्धि इन चार विषयों का जो संनिवेश किया है, उनका प्रतिपादन करते हुए किया जा चुका है। इन्हीं आठ प्रकार के आख्यानों में एक प्रकार का आख्यान असदाख्यान भी है। जिसको Mythology (मिथ्या कल्पित आख्यान) कहते हैं। इस असदाख्यान में आकाशमण्डलस्थ नक्षत्रों में से किसी को सर्प, किसी को ब्रह्मा, किसी को इन्द्र, किसी को रुद्र, किसी को बृहस्पति मान कर ब्रह्मा, रुद्र, आदि प्राणदेवताओं के विज्ञान को सरलता से समझाने के लिए इन नामों की नक्षत्रों पर कल्पना की गई है। इन मिथ्या कथाओं से आकाश-

मण्डलस्थ नक्षत्रों का ज्ञान, उन नक्षत्रों के गुणों का ज्ञान, धार्मिक महर्षियों के चरित्र का ज्ञान,तथा मन्दबुद्धि बालकों को सरलता से गूढ विज्ञान का अवबोध हो जाता है। किन्तु इन कल्पित मिथ्या आख्यानों को पढ़ कर मानव में अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। इसी आधार पर कतिपय पुरुषों ने उन्हें गप्प मान लिया है और वे पुराण को अश्रद्धेय तथा अप्रमाणिक मानने लगे हैं।

किन्तु तात्विक दृष्टि से विचार किया जाता है तो पुराण भी वेदार्थ के प्रतिपादक तथा वेदों के गूढ रहस्य का निरूपण करने वाले हैं। इसीलिए भगवान् वेदव्यास ने मानव के बुद्धिमान्द्य को तथा एक ही व्यक्ति के द्वारा सम्पूर्ण वेदशास्त्र का अध्ययन उत्तरकाल में सम्भव नहीं है इस तथ्य को ध्यान में रखकर पुरातन एक ही वेदसंहिता का यज्ञ में भिन्न-भिन्न ऋत्विजों के हौत्रादि कर्मों के अनुरोध से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद इन चारसंहिताओं में विभक्त कर उन संहिताओं का अध्यापन क्रमशः पैल, वैशम्पायन, जैमिनि, सुमन्तु इन चार शिष्यों को करवाया। उसी प्रकार 'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा' इस वचन के अनुसार स्त्री शूद्र व द्विजबन्धुओं को वेदाध्ययन का अधिकार न होने से उन को वेदार्थज्ञान कराने के लिए पञ्चम पुराणसंहिता का निर्माण किया तथा उसे लोमहर्षण को पढ़ाया।[1]

वस्तुतः पुराण वेदार्थ के उपबृंहक व वेदार्थ के उद्घाटक हैं। इसीलिए भगवान् वेदव्यास ने कहा है—

---

१. पराशरसुतो व्यासः कृष्णद्वैपायनोऽभवत्।
स एव सर्ववेदानां पुराणानां प्रदर्शकः॥
अथ शिष्यान् स जग्राह चतुरो वेदपारगान्।
जैमिनिं च सुमन्तुं च वैशम्पायनमेव च॥
पैलं तेषां चतुर्थं च पञ्चमं मां (लोमहर्षणं) महामुनिः।
ऋग्वेदपाठकं पैलं जग्राह स महामुनिः॥
यजुर्वेदप्रवक्तारं वैशम्पायनमेव च।
जैमिनिं सामवेदस्य पाठकं सोऽन्वपद्यत॥
तथैवाथर्ववेदस्य सुमन्तुमृषिसत्तमम्।
इतिहासपुराणानि प्रवक्तुं मामयोजयत्॥

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ।।

अतः पौराणिक असदाख्यान पुराण में अश्रद्धा व अप्रामाणिकता के कारण नहीं है । यह आवश्यक है कि उन असदाख्यानों को समझने के लिए उनमें प्रतिपादित रहस्य का ज्ञान प्राप्त किया जाय । एक उदाहरण के द्वारा उपर्युक्त तथ्य का स्पष्टीकरण किया जा रहा है । वह आख्यान निम्नलिखित है—

एक बार भगवान् प्रजापति ने मृगरूप धारण कर संभोगार्थ अपनी पुत्री का अनुधावन किया । जब प्रजापति को मृगरूप से अपने पर आक्रमण करते देखा तब वह भयभीत होकर मृगी का रूप धारण कर वहाँ से भगी । देवताओं ने इस घटना को देखा तो उन्होंने परस्पर विचार किया कि यह प्रजापति बड़ा अनुचित कार्य कर रहा है क्योंकि यह हमारी बहिन के साथ संभोग करने के लिए उद्यत हो रहा है । अतः इसे मार देना चाहिए । यह विचार कर सारे देवता भगवान् रुद्र के पास गये और उन से कहा कि—हे पशुपति ! प्रजापति अपनी पुत्री से बलात्कार करना चाहता है । अतः इसे इस अनुचित कार्य के लिए दण्ड दीजिए । तब भगवान् पशुपति रुद्र ने कहा—कि मैं इन्हें दण्ड देने में असमर्थ हूँ । तब सभी देवताओं ने अपना तेजोभाग एकत्र संचित कर रुद्र को दिया । उस तेज के करण बलवान् बन कर रुद्र ने रोहिणी पर आक्रमण करने वाले प्रजापति के मस्तक को काट गिराया । परन्तु इस आख्यान का प्रयोजन आकाश के विशेष प्रदेश में स्थित नक्षत्रों का तथा उनके गुण धर्मादि का परिज्ञान कराना ही है । इसका रहस्य निम्नलिखित है—

प्रकृत असदाख्यान कृत्तिका नक्षत्र से पूर्व, लुब्धकबन्धु नक्षत्र से पश्चिम, शशलाञ्छनापरपर्याय चन्द्रमा से एवं श्याव व शबल नामक दो श्वानों से उत्तर तथा प्रजापति और पुनर्वसु से दक्षिण तक का जो आकाशमण्डल है एवं इस आकाशप्रदेश में जितने तारे हैं उन पर प्रजापति आदि देवताओं की कल्पना पर बनाया गया है । कृत्तिका नक्षत्र से पूर्व चमकते हुए तथा लाली लिये हुए शकटाकार जो पाँच तारे हैं इन्हीं पर रोहिणी की कल्पना की गई है । रोहिणी से पूर्व में १०, १५ तारों का एक समूह है जो कि मस्तक

के आकार का प्रतीत होता है, वही मृगाशिरा नक्षत्र है। इस पर प्रजापति के मस्तक की कल्पना की गई है। इस मृगशिरा के पास तीन चमकते हुए तारे हैं इन्हीं पर त्रिकाण्ड बाण की कल्पना है। इससे पूर्व की ओर थोड़ी दूरी पर एक प्रकाशयुक्त तीव्र तारा है जिसे कि लुब्धक-बन्धु कहते हैं। इस पर पशुपति की कल्पना है। इस प्रकार यह आख्यान उपर्युक्त आकाशमण्डल के विशेषप्रदेशस्थ ताराओं का ज्ञान करा रहा है।

इस आख्यान में प्रजापति का रोहिणी के पीछे दौड़ना (अनुधावन) बतलाया है। इसका तात्पर्य यही है कि आकाश में नक्षत्र दृश्यमण्डल के अनुसार प्रतिदिन पूर्व से पश्चिम की ओर जाते हुए दिखाई देते हैं। पहिले अश्विनी जाता है। उसके बाद भरणी, तदनन्तर कृत्तिका, तत्पश्चात् रोहिणी और बाद में रोहिणी के पीछे मृगशिरा नक्षत्र जाता है। नक्षत्रों के इस गतिक्रम के आधार पर ही प्रजापति रोहिणी के पीछे दौड़ा, यह कहा गया है। आकाश-मण्डलस्थ तारे देवतास्थानापन्न है। उन देवताओं ने अपना तेज रुद्र (लुब्धकबन्धु) को दिया, उसका तात्पर्य यह है कि सभी नक्षत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार का रस है। किन्तु जैसे गूलर में सभी वनस्पतियों का रस रहता है उसी प्रकार लुब्धकबन्धु में सभी नक्षत्रों का रस, तेज विद्यमान हैं।

इस असदाख्यान का रहस्य ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्ट रूप से वर्णित किया गया है। पाठकों के परिज्ञान के लिए उसको यहाँ अविकल रूप में उद्धृत किया जा रहा है:—

'प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्-दिवमित्यन्य आहु-रुषसमित्यन्ये। तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्। तं देवा अपश्यन्नकृतं वै प्रजापतिः करोतीति। ते तमैच्छन् य एनमारि-ष्यति। एतमन्योन्यस्मिन् नाविन्दन्। तेषां या एव घोरतमा-स्तन्व आसंस्ता एकधा सममरन्। ताः संभृता एष देवोऽभवत्, तदस्यैतद् भूतवन्नाम इति। तं देवा अब्रुवन्, अयं वै प्रजापतिर-कृतमकः, इमं विध्येति। स तथेत्यब्रवीत्। स वै वरं वृणा इति। वृणीष्वेति। स एतमेव वरमवृणीत पशूनामाधिपत्यं तदस्यैतत्प-शुमन्नाम' इति।

तमभ्यायत्याविध्यत्। स विद्ध ऊर्ध्व उद्पतत्। तमेतं मृग

इत्याचक्षते । य उ एव मृगव्याधः स उ एव सः । या रोहित् सा रोहिणी । यो एवेषुस्त्रिकाण्डा सो एवेषुस्त्रिकाण्डा । इति ।

तद्वा इदं प्रजापते रेतः सिक्तमधावत् तत्सरोऽभवत् । देवा अब्रुवन् मेदं प्रजापते रेतो दुषत् इति, तन्मादुषमभवत् । तन्मादुषस्य मादुषत्वम् । मादुषं ह वै नामैतद् यन्मानुषम् । तन्मानुषमित्याचक्षते परोक्षेण, परोक्षप्रिया इव हि देवाः । इति । तदग्निना पर्यादधुस्तन्मरुतोऽधून्वंस्तदग्निर्न प्राच्यावयत । तदग्निना वैश्वानरेण पर्यादधुस्तन्मरुतोऽधून्वंस्तदग्निर्वैश्वानरः प्राच्यावयत् । तस्य यद्रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवत् । तद् यद् द्वितीयमासीत् तद्भृगुरभवत् । तं वरुणो न्यगृह्णीत तस्मात् स भृगुर्वारुणिः । अथ यत् तृतीयमदीदेदिव त आदित्या अभवन् । येऽङ्गारा आसँस्तेऽङ्गिरसोऽभवन् । यदङ्गाराः पुनरवशान्ता उददीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवत् ।' इति ।

इस उद्धरण का तात्पर्य यह है कि प्रजापति ने अपनी पुत्री के साथ संभोग का संकल्प किया । उसने मृगी बनी हुई अपनी पुत्री का मृगरूप धारण कर पीछा किया । देवताओं ने विचार किया कि यह प्रजापति अकरणीय अर्थात् अनुचित कार्य कर रहा है । देवताओं ने ऐसे व्यक्ति की इच्छा की जो प्रजापति को ताड़ना दे । किन्तु ऐसा पुरुष उन्हें देवताओं में न मिला । इसलिए देवताओं ने जो अपना घोरतम भाग था उसका एकत्र संभरण किया । देवताओं का एकत्र किया हुआ घोरतम भाग ही रुद्र बना । उसका नाम भूतवान् अर्थात् भूतपति हुआ । उस भूतपति रुद्र को देवताओं ने कहा-यह प्रजापति अनुचित कार्य कर रहा है अतः इस पर प्रहार करो । रुद्र ने कहा ठीक है । किन्तु इसके बदले मैं कुछ वर मांगना चाहता हूं । देवताओं ने कहा मांगो । उसने यही वर मांगा कि मैं पशुओं का अधिपति बन जाऊँ । इसलिए रुद्र का नाम पशुमान् या पशुपति हुआ ।

वर मिलने पर पशुपति रुद्र ने प्रजापति के पास आकर उसे बाण से बींध दिया । बाण से विद्ध (कटा हुआ) प्रजापति का ऊर्ध्वभाग अर्थात् मस्तक ऊपर उछला । प्रजापति के उस कटे हुए मस्तक को मृग कहते हैं । अर्थात् वह मृगशिरा नक्षत्र है । जो प्रजापतिरूप मृग को मारने वाला रुद्र था वही मृगव्याध नक्षत्र है ।

जो रक्तवर्ण की मृगी थी वही रोहिणी नक्षत्र है। जिस त्रिकाण्ड बाण से प्रजापति का मस्तक काटा गया था। वही तीन तारों का समूह त्रिकाण्ड नक्षत्र है।

मृगीरूपधारिणी पुत्री का संभोगेच्छा से अनुधावन करने वाले प्रजापति का वीर्य शिरश्छेदन से पूर्व ही स्खलित हो गया था। वह अधिक होने से बहने लगा अतः उसका नाम सर हो गया। उन देवताओं ने विचार किया कि प्रजापति का यह स्खलित वीर्य दूषित न हो जाय। अतः 'मा दुषत्' इस कामना के कारण उसका नाम मादुष हो गया। मादुषशब्द ही परोक्ष भाषा में मानुष कहलाया। क्योंकि देवता परोक्षप्रिय हैं। अतः उसे मादुष न कह कर परोक्ष भाषा में मानुष कहा गया। यह वीर्य बह न जाय इसलिए देवताओं ने उस वीर्य को अग्नि से परिवेष्टित किया। वायु ने उसमें प्रवेश कर उस तरल वीर्य को सुखाना प्रारम्भ किया, जिससे वह पिण्डरूप में परिणत हो जाय और बह न सके। किन्तु अग्नि उसे पिण्डरूप में परिणत न कर सकी। तब देवताओं ने वैश्वानरनामक अग्नि से उसे परिवेष्टित किया। और वैश्वानर अग्नि से परिवेष्टित उस वीर्य में वायु ने प्रवेश कर उसे सुखाना प्रारम्भ किया। वैश्वानर अग्नि ने तरलरूप में विद्यमान प्रजापति के रेत (वीर्य) को वायु की सहायता से पिण्डरूप में परिणत कर दिया। पिण्डाकार में परिणत प्रजापति के वीर्य का सर्वप्रथम जो उद्दीपन हुआ वही प्रकाशमान आदित्य बना। दूसरी बार जो उद्दीपन हुआ वह परिभर्जन अर्थात् परिपाक के कारण भृगु बना। उस भृगु को वरुण ने अपने निग्रह में ले लिया अर्थात् आवृत कर लिया। वरुण द्वारा निगृहीत होने से भृगु को वारुणि कहा जाता है। तीसरी वार जब वीर्य का अतिशय मात्रा में बार बार उद्दीपन हुआ। उससे अन्य आदित्य बने। वीर्य का गहरा परिपाक होने से वह अङ्गारों के रूप में परिणत हुआ। वे ही अङ्गिरा कहलाये। वे अङ्गारे शान्त होकर पुनः जो उद्दीप्त हुए वे ही बृहस्पति बने।

इस आख्यान को आख्यानिकों ने आकाश के प्रदेशविशेष से सम्बन्धित नक्षत्रों पर लगाया है अर्थात् उस विशेषप्रदेश में विद्यमान आकाशीय नक्षत्रों का निरूपण इसमें माना है तथा नैदानिकों अर्थात् निदानविद्या को जानने वाले विद्वानों ने उषःकाल से उपलक्षित प्रजापतिपुत्री उषा तथा उससे उत्पन्न कुमाराग्निपरक इसे माना है।

पहले हम आख्यानिकों के अनुसार आकाश के प्रदेशविशेषस्थित नक्षत्रों को लेकर इसका समन्वय कर रहे हैं।

आख्यानिकों के अनुसार कृतिका नक्षत्र से पूर्व की तरफ का, लुब्धकबन्धु नक्षत्र से पश्चिम की तरफ का, शशलाञ्छनापरपर्याय चन्द्रमा से उत्तर की ओर का तथा प्रजापति नक्षत्र व पुनर्वसु के ताराओं से दक्षिण की ओर का जितना आकाशप्रदेश है, उसमें स्थित प्रकाशमान ताराओं में देवप्राणियों अर्थात् देवताओं की कल्पना कर इस आख्यान की कल्पना की गई है। उसका निरूपण निम्न प्रकार से है।

कृतिका नक्षत्र से पूर्व दिशा की ओर एक चमकीला तारा है वह रक्त वर्ण का है। अतः उसका नाम रोहिणी है। इसी को आख्यानविद् भृगु से उत्पन्न लक्ष्मी अर्थात् कमला कहते हैं। उस रोहिणी के ठीक सामने ६ नक्षत्रों की अर्थात् १८० अंश की दूरी पर एक दूसरा चमकीला नक्षत्र है उसे ज्येष्ठा, दरिद्रा या धूमावती कहते हैं। ये दोनों ही प्रकाशमान नक्षत्र रोहिणी ही कहलाते हैं। ज्येष्ठा नक्षत्र से रोहिणी नक्षत्र पर्यन्त चन्द्रमा का आरोहण होता है और आरोहण करने वाले, ऊपर जाने वाले अर्थात् उन्नति करने वाले को लक्ष्मी की प्राप्ति होती है अतः इस रोहिणी को लक्ष्मी-प्राप्ति का कारण होने से कमला शब्द से व्यपदिष्ट करते हैं। किन्तु मृगशीर्ष नक्षत्र से ज्येष्ठा नक्षत्र पर्यन्त चन्द्रमा का दक्षिणदिशागमन-रूप अवरोहण होता है। और अवरोहण अर्थात् पतन दरिद्रता का कारण है अतः इस रोहिणी को दरिद्रा या धूमावती कहते हैं। किन्तु लक्ष्मीप्राप्ति व अलक्ष्मीप्राप्ति में चन्द्रमा का क्रमशः आरोहण व अवरोहण होने पर भी रोहणरूप धर्म दोनों में समान है। अतः उन दोनों को ही रोहिणी कहा गया है। अपि च ज्येष्ठा नक्षत्र से उपल-क्षित आकाशप्रदेश में स्त्रीजातीय रोहित मृग की कल्पना की गई है, इससे भी इस ज्येष्ठा नक्षत्र को रोहिणी कहा जाता है। यह ज्येष्ठारूप रोहिणी पहिले मनुष्य के आकार की थी किन्तु बाद में स्त्रीजातीय रोहित मृग के आकार की बन गई। ब्रह्महृदयनामक तारा से उपलक्षित शरीर वाला प्रजापतिनामक नक्षत्र जो कि ईशान कोण में है उसमें रोहिणी के पिता की कल्पना की है। प्रजापति शब्द भेड़ बकरी चराने वाले शूद्र जाति की संज्ञा है। इस प्रजापति को व्यभिचार की इच्छा से रोहिणी का अनुधावन करता देख कर आकाशमण्डलस्थ ताराओं में कल्पित देवता कुपित हुए।

और उन्होंने प्रजापति के पुत्र मृगव्याध नामक रुद्र को अपने विभिन्न अनेक प्रकार के तेजों से युक्त कर उसे अतिघोर बना कर उसके द्वारा मृगरूप प्रजापति का शिरश्छेदन करवा दिया। प्रजापति का वह कटा हुआ मस्तकरूप मृगशिरा नक्षत्र, जिस बाण से काटा गया था वह उस बाण से संलग्न दक्षिण की ओर दिखाई देता है। और प्रजापति कटे हुए मस्तक वाला उत्तर की ओर दिखाई देता है। रोहिणी और बाण के बीच प्रजापति के स्खलित वीर्य से सर बन गया जिसको कि परोक्ष भाषा में मानुष कहा गया है। यह सर आधा विषुवद् वृत्त से दक्षिण दिशा में तथा आधा विषुवद् वृत्त से उत्तर में प्रवाहित हो रहा है। इस सर से संलग्न की तरह उत्तर में एक अग्निनामक तारा है। प्रजापति का वीर्य, जो कि अग्नि तथा वायु के कारण तरलरूप से पिण्डरूप में परिणत हो गया था, के दो स्थूलबिन्दु अग्निसंयोग से प्रज्वलित हो गये थे वे ही पुनर्वसु नाम के दो तारे हैं। उनमें पश्चिम की ओर का पुनर्वसु तारा आदित्य तथा पूर्व की ओर का पुनर्वसु तारा का भृगु है। भृगु ऋषिप्राण है। नीरूप सजातीय प्राण ऋषि कहलता है। उस नीरूप प्राण का विजातीय तत्व के सम्बन्ध के बिना नेत्र द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः भृगुरूप ऋषिप्राण को विजातीय असुर प्राण वरुण ने ग्रहण किया। विजातीय वरुणरूप असुर के सम्बन्ध से उसका प्रत्यक्ष हुआ। भृगु ऋषि के वरुणरूप असुर से निगृहीत होने के कारण ही भृगु को वारुणि कहा है।

यद्यपि ऋषिनाम से प्रसिद्ध सभी द्युलोकस्थ ताराओं में न्यून वा अधिक मात्रा में देवताओं के वीर्य का सम्बन्ध रहता है। क्योंकि उनके सम्बन्ध के बिना उन तारारूप प्राणों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। तथापि वरुणरूप असुर या देवता भृगु का ही निग्रह करता है अर्थात् उसी से सम्बन्ध रखता है अन्य से नहीं। इसी वैशिष्ट्य को बतलाने के लिए भृगु को ही वारुणि कहा गया है। लुब्धकबन्धु नक्षत्र तक स्थित वक्रदण्ड की तरह प्रतीत होने वाले तीन तारे आदित्य कहलाते हैं। और उन तीनों ताराओं से भिन्न अतिसूक्ष्म दृश्य व अदृश्य तारे अङ्गिरा कहलाते हैं। उनमें एक अत्यन्त चमकीला तारा लुब्धकबन्धु नाम का बृहस्पति तारा है। मृग-व्याधरूप रुद्र तथा रोहिणी के बीच अनेक, प्रजापति के रेत के विकाररूप पशु, आकाश में दिखाई देते हैं, जिन पशुओं का पति पहिले प्रजापति था। और बाद में अर्थात् प्रजापति का शिरश्छेद करने के पश्चात् भूतपति मृगव्याध उनका अधिपति बन गया। इस प्रकार इस आख्यान के नायक ऋषि, देवता व पशुओं के रूपों से युक्त

आकाशविशेषप्रदेशस्थ ताराओं के नाम व प्रभाव का निरूपण इस आख्यान के द्वारा किया गया है।

इस आख्यान द्वारा आख्यानिकों के अभिप्रेत द्युलोकस्थ ताराओं के विज्ञान का निरूपण करने के बाद अब निदानविदों द्वारा अभिप्रेत इस आख्यान के विज्ञान का निरूपण किया जा रहा है :

यह आख्यान 'अनुगम' है। क्योंकि किसी विशेष देवता आदि से जिसका सम्बन्ध न होकर अनेकों के साथ जिसका सम्बन्ध होता है उसे अनुगम कहते हैं। इस आख्यान का सम्बन्ध केवल आकाश-मण्डलस्थ नक्षत्रों के साथ ही न होकर उषा के साथ भी अवश्य है। जैसे—१२ प्रजापतियों में से एक द्युप्रजापति भी है। इसी द्युप्रजापति से उषा उत्पन्न होती है। इसीलिए उषा को द्युप्रजापति की लड़की निम्न मन्त्र में कहा गया है—

'एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती युवतिः शुक्रवासाः।
विश्वस्येशाना पार्थिवस्य वस्व उषो अद्येह सुभगे व्युच्छ॥'
(ऋ. १।११३।७)

"द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥"
(ऋ. १।१६४।३३)

इस ऋङ्मन्त्र में भी द्युलोक को पिता (प्रजापति) कहा गया है।

उषा का उत्पादक द्युप्रजापति सूर्य ही है। प्रातःकाल प्रतिदिन सूर्य प्रजापति उषा के पीछे रहता है। क्योंकि उषा सूर्य से ३० अंश आगे रहती है। पहिले उषःकाल आता है, तत्पश्चात् सूर्योदय होता है। इस प्रकार उषःकाल के बाद सूर्योदय का होना ही उषारूप पुत्री के पीछे सूर्यरूप द्युप्रजापति के द्वारा उषा का अनुधावन करना है। इस तथ्य को स्वयं ऋङ्मन्त्र बतला रहा है—

'सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।'
(ऋ. १।११५।२)

अर्थात् सूर्य प्रकाशमान उषा देवी का उसी प्रकार पीछा करता है जिस प्रकार मनुष्य स्त्री के पीछे दौड़ता है।

उपर्युक्त आख्यान का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड के सप्तम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में किया गया है। जैसे—'प्रजापतिर्ह वै स्वां दुहितरमभिदध्यौ' इति। यहीं पर भगवान् याज्ञवल्क्य ने इस आख्यान का रहस्य 'दिवं वोषसं वा' इस उक्ति द्वारा बतला दिया है। ऐतरेय ब्राह्मण (३।३।९) में भी 'दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये' के द्वारा इसी रहस्य का उल्लेख किया गया है। जिसका कि निरूपण ऊपर किया जा चुका है। अर्थात् इस आख्यान का समन्वय आकाशमण्डलस्थ नक्षत्रों तथा उषा दोनों में होता है।

यदि प्रजापति के अपनी पुत्री का अनुधावन करने के कारण ही पुराणों को अश्रद्धेय वा अप्रामाणिक माना जायगा तो ऋङ्मन्त्र में भी इसका निरूपण होने से संहिता को भी अश्रद्धेय तथा अप्रामाणिक मानना पड़ेगा। निम्नाङ्कित मन्त्र में इस घटना का स्पष्ट उल्लेख है—

'पिता यत् स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेतः संजग्मानो निषिञ्चत्' (ऋ. १०।६।१७) इति। उयर्युक्त पौराणिक असदाख्यान तो उपर्युक्त मन्त्र के अर्थ का स्पष्टीकरण ही कर रहा है। अतः वेदार्थ का उद्घाटक होने से असदाख्यान के प्रतिपादनमात्र से पुराणों को अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

सप्तद्वीपा, सप्तसमुद्रा पृथिवी

पृथ्वी को पुराणों में सप्तद्वीपवती बतलाया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने महाभाष्य के पस्पशाह्निक में 'सप्तद्वीपा वसुमती' कहकर पृथिवी में सात द्वीपों की सत्ता बतलाई है। वे सप्तद्वीप-जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाल्मलीद्वीप, कुशद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, शाकद्वीप व पुष्करद्वीप हैं। ये द्वीप उत्तरोत्तर अधिक परिमाण वाले तथा भिन्न भिन्न समुद्रों से वेष्टित बतलाये गये हैं। जैसे जम्बूद्वीप अपने समान परिमाण व विस्तार वाले लवण समुद्र से परिवेष्टित है। जैसे परिखा (खाई) बाहर के उपवन से घिरी रहती है उसी प्रकार क्षार समुद्र भी अपने से द्विगुणित विस्तार वाले प्लक्षद्वीप से घिरा हुआ है।

प्लक्षद्वीप अपने ही समान आकार वाले इक्षुरस के समुद्र से घिरा हुआ है। यह समुद्र भी इससे आगे प्लक्षद्वीप से द्विगुणित आकार वाले शाल्मलीद्वीप से परिवेष्टित है। यह शाल्मलीद्वीप भी अपने ही समान आकार वाले मदिरा के समुद्र से घिरा हुआ है।

इससे आगे अर्थात् मदिरा के समुद्र से आगे उससे द्विगुणित आकार वाला कुशद्वीप है। यह कुशद्वीप अपने ही समान आकार वाले घृत के समुद्र से परिवेष्टित है। इससे आगे इस कुशद्वीप से द्विगुणित परिमाण वाला क्रौञ्चद्वीप है। यह क्रौञ्चद्वीप भी अपने समान विस्तार वाले दूध के समुद्र से घिरा हुआ है। इस क्षीर समुद्र के चारों ओर ३२ लाख योजन विस्तार वाला शाकद्वीप है। यह शाकद्वीप भी अपने ही समान परिमाण वाले दधिमण्डोद अर्थात् मट्ठे के समुद्र से घिरा हुआ है। इसी तरह मट्ठे के समुद्र से आगे उससे दुगने विस्तार वाला पुष्करद्वीप है। यह पुष्करद्वीप अपने ही समान विस्तार वाले मीठे जल के समुद्र से परिवेष्टित है। यहाँ अग्नि की शिखा के समान देदीप्यमान लाखों स्वर्णमय पंखड़ियों वाला एक बहुत बड़ा पुष्कर अर्थात् कमल है, जो ब्रह्माजी का आसन माना जाता है। इस पुष्करद्वीप के मध्य में पूर्वीय पश्चिमीय विभागों की मर्यादा निश्चित करने वाला मानसोत्तर नाम का एक ही पर्वत है। यह दस हजार योजन ऊँचा और दस हजार योजन लम्बा है। इसके ऊपर चारों दिशाओं में इन्द्रादि लोकपालों की चार पुरी हैं।

जम्बू आदि द्वीपों में क्रमशः जम्बूनामक वृक्ष, प्लक्षनामक वृक्ष (पाकर), शाल्मली नामक वृक्ष (सेमर), कुशों का झाड़, क्रौञ्च नामक पर्वत व शाकनामक वृक्ष तथा पुष्कर (कमल) हैं। इन्हीं के कारण उनके जम्बूद्वीप आदि नाम हुए हैं। इन सब द्वीपों में विभिन्न पर्वत, नदियाँ हैं। इस प्रकार पृथ्वी पर उपर्युक्त ७ द्वीपों की स्थिति भागवतादि पुराणों में बतलाई है। परन्तु इस पृथ्वी पर जम्बूद्वीप को छोड़ कर और कोई प्लक्षादि द्वीप उपलब्ध नहीं हो रहे हैं और न उन द्वीपों को घेर कर रहने वाले इक्षुरससमुद्र, सुरासमुद्र, घृत-समुद्र, क्षीरसमुद्र, मट्ठे का समुद्र, स्वादूदक (मीठे जल का) समुद्र ही इस पृथ्वी पर दृष्टिगोचर होते हैं। इनके पृथ्वी पर उपलब्ध न होने पर भी पुराणों में इनका बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। इस कारण भी लोग पुराणों को गपोड़पुराण की संज्ञा देते हैं।

किन्तु पुराणों में इन द्वीपों और समुद्रों का जो वर्णन किया गया है वह मिथ्या नहीं है। इसके लिए पौराणिक परिभाषाज्ञान की आवश्यकता है। पृथ्वी की उस परिभाषा का ही निरूपण यहाँ किया जा रहा है।

पृथ्वी मर्त्य व अमृत भेद से दो प्रकार की है। पिण्डरूपा पृथिवी भूमि कहलाती है। जिसका स्पर्श होता है, वह पिण्डरूप पृथिवी है। यही पिण्डरूपा पृथिवी है जिसे कि भूमि नाम से भी व्यवहृत किया जाता है तथा यह मर्त्य पृथिवी व चित्य पृथिवी भी कहलाती है। तथा दूसरी प्राणरूपा पृथिवी है जिसे अमृता पृथिवी व चितेनिधेय पृथ्वी कहा जाता है।

इस मर्त्य, चित्य व पिण्ड पृथिवी के केन्द्र में अग्निप्राण रहता है। जैसा कि 'यथाग्निगर्भा पृथिवी' यह श्रुति बतला रही है। पृथिवी-पिण्ड के केन्द्र में रहने वाला वह अग्निप्राण इस भूपिण्ड से निकलकर पृथिवी के २१ वें अहर्गण से भी आगे २२ वें अहर्गण तक फैला हुआ है। पृथिवी के २१ वें अहर्गण पर सूर्य की स्थिति है। जैसा कि 'एकविंशो वा (भुवनस्य)आदित्यः'(तां. ४।६।३) 'असौ वा आदित्य एकविंशः' (तै. १।५।१०।६) इत्यादि श्रुतियाँ बतला रही हैं। यहीं पुष्करद्वीप है जिसमें ब्रह्मा रहता है। पुष्करद्वीप के मध्य में उसके पूर्वीय व पश्चिमीय विभागों की मर्यादा निश्चित करने वाला मानसोत्तर नाम का एक ही पर्वत है। इसके ऊपर चारों ओर इन्द्रादि लोकपालों की चार पुरियाँ हैं। इस के बाद लोकालोक पर्वत है जो सूर्य आदि के द्वारा प्रकाशित व अप्रकाशित भागों को अलग करता है। सूर्यादि द्वारा प्रकाशित लोकों का इतना ही विस्तार है। इस से सिद्ध है कि जम्बू और अन्य द्वीप भूपिण्ड से प्रारम्भ कर सूर्य तक स्थित हैं। यह सूर्य ही त्रैलोक्य का प्रजापति है और प्रजापति ही ब्रह्मा है। यही सकल सृष्टि का निर्माता है। इसीलिये 'नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः' यह श्रुति सकलजगत् की उत्पत्ति अर्थात् त्रैलोक्य की उत्पत्ति तथा पार्थिव सकल पदार्थों की सृष्टि सूर्य से बतला रही है। सूर्य ही देवरथ है, जैसा कि 'आदित्यो वै देवरथः' यह श्रुति बतला रही है। अग्निप्राणरूपा पृथिवी २१ वें अहर्गण पर पुष्करद्वीप में विद्यमान देवरथ रूप सूर्य को भी पार कर २२ वें अहर्गण तक जाती है। इसीलिए पृथिवी के साम को रथन्तर कहा जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राणरूपा अमृता पृथिवी २२ वें अहर्गण तक जाती है। यही भूकेन्द्र से निकल कर उत्तरोत्तर फैलने वाली अमृता पृथिवी का प्रथन है। प्रथन के कारण यह अमृता प्राणरूपा पृथिवी कहलाती है। किन्तु यह प्रथन भूपिण्डरूप मर्त्य पृथिवी का नहीं होता अपितु अग्निप्राणरूपा अमृता पृथिवी का होता है। अतः प्राणरूपा

अमृता पृथिवी ही वस्तुतः पृथिवी कहलाती है। पिण्डरूपा मर्त्या पृथिवी तो भूमि कहलाती है। किन्तु प्राण व प्राणी का अभेद मान कर भूपिण्ड को पृथिवी कह दिया जाता है।

जम्बूद्वीप को छोड़कर पूर्व पूर्व द्वीप से द्विगुणित रूप में विद्यमान उत्तरोत्तर द्वीप इस अमृतारूपा पृथिवी में हैं। अग्निप्राण का स्वभाव है कि वह उत्तरोत्तर विशकलित होता हुआ अधिक फैलता है। इसी कारण से अमृता पृथिवी में विद्यमान प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक तथा पुष्कर ये उत्तरोत्तर द्वीप पूर्व पूर्व द्वीप से द्विगुणित परिमाण वाले बतलाये गये हैं। लवण समुद्र को छोड़कर इक्षुरससमुद्र, सुरासमुद्र, घृतसमुद्र, क्षीरसमुद्र, दधिमण्डोद तथा स्वादूदक समुद्रों की सत्ता भी भूमि पर न होकर अमृता पृथिवी में ही है। अमृता प्राणरूपा पृथिवी के उत्तरोत्तर विशकलित होकर फैलने के कारण इक्षुरस समुद्रादि भी पूर्व पूर्व समुद्र से द्विगुणित व अधिक विस्तृत हैं।[1] अतः पृथिवी शब्द जिसका कि पुराणों में प्रयोग हुआ है वह भूमि अर्थात् पिण्ड पृथिवी का वाचक न होकर उत्तरोत्तर फैलने वाली अमृता पृथिवी का बोधक है। प्रथन का अर्थ विस्तार है। यह अग्नि प्राणरूपा अमृता पृथिवी उत्तरोत्तर प्रथित (विस्तृत) होती जाती है। उसी में प्लक्षादि ६ द्वीपों की अपेक्षा से उत्तरोत्तर द्वीप का द्विगुणित होना उपपन्न हो सकता है। यदि भूपिण्ड में ही इन द्वीपों की सत्ता होती तो पूर्व पूर्व द्वीप की अपेक्षा उत्तरोत्तर द्वीपों में तथा पूर्व पूर्व समुद्र की अपेक्षा उत्तरोत्तर समुद्रों में द्विगुणता नहीं हो सकती थी। एक प्रश्न यह बच जाता है कि अमृता पृथिवी में विद्यमान ये द्वीप व समुद्र विना आधार के कैसे रहेंगे तो इसका समाधान है कि सभी द्वीप, समुद्र, ग्रह, नक्षत्र आदि परस्पर के आकर्षण से स्थित हैं। अन्यथा इस भूपिण्ड तथा जम्बूद्वीप

---

१. ये वा उ ह तद्रथचरणनेमिपरिखातास्ते सप्त सिन्धव आसन्, यत एव कृताः सप्त भुवो द्वीपाः जम्बूप्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्करसंज्ञास्तेषां परिमाणं पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तर उत्तरो यथासंख्यं द्विगुणमानेन, बहिः समन्तत उपक्लृताः। क्षारोदेक्षुरसोदसुरोदघृतोदक्षीरोददधिमण्डोद-शुद्धोदाः सप्त जलधयः सप्त द्वीपपरिखाइवाभ्यन्तरद्वीपसमानाः.... उपकल्पिताः। (भाग. ५ स्कन्ध १ अध्याय)
इनका विस्तृत वर्णन भागवत के ५ स्कन्ध के २० वें अध्याय में किया गया है। विस्तारभय से उसका निरूपण यहाँ नहीं किया जा रहा है।

का ही कौन सा आधार है जिस पर ये स्थित हैं। इस प्रकार प्राणरूपा अमृता पृथिवी में प्लक्षादि द्वीपों तथा इक्षुरसादि समुद्रों की सत्ता मानने पर पृथिवी के सप्तद्वीपा व सप्तसमुद्रा होने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है। अतः पुराणों का पृथिवी में सात द्वीपों व सात समुद्रों का का वर्णन यथार्थ है और पृथिवी पर उनका वर्णन करने वाले पुराणों में अयथार्थता व काल्पनिकता का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता।

वसिष्ठादि का मैत्रावरुणित्व व उर्वशीजन्यत्व

पुराणों में यह उल्लेख मिलता है कि उर्वशी अप्सरा में मित्र और वरुण के द्वारा वीर्याधान से वसिष्ठ, अगस्त्य तथा मत्स्य ऋषि की उत्पत्ति हुई। कथानक इस प्रकार है कि आदित्यसत्र में मित्र व वरुण देवता भी आये और उर्वशी अप्सरा भी उस यज्ञ में पहुँची। उर्वशी के सौन्दर्य को देखकर मित्र और वरुण काममोहित हो गये और उनका वीर्य स्खलित हो गया। वह वीर्य वासतीवरनामक कुम्भ में गिरा। उस कुम्भ में उत्तर की तरफ जो वीर्य गिरा उससे वसिष्ठ की उत्पत्ति हुई। कुम्भ के मध्य में जो मित्र और वरुण का वीर्य गिरा उससे मत्स्य ऋषि उत्पन्न हुए तथा कुम्भ में दक्षिण की तरफ जो वीर्य गिरा उससे अगस्त्य ऋषि उत्पन्न हुए। इसलिये वसिष्ठ, मत्स्य व अगस्त्य तीनों ऋषि मित्र और वरुण के वीर्य से उत्पन्न होने के कारण मैत्रावरुणि तथा कामासक्त उर्वशी का उस वीर्य में मनोयोग होने के कारण उर्वशीजन्य या उर्वशीपुत्र कहलाये। निम्नलिखित ऋङ्मन्त्र इसी तथ्य का प्रतिपादन कर रहे हैं—

'विद्युतो ज्योतिः परि संजिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा।
तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यत् त्वा विश आजभार॥
(ऋ. ७/३३/१०)

सत्रे ह जाताविषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्।
ततो ह मान उदियाय मध्यात् ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्॥
(ऋ. ७/३३/१३)

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाऽददन्त॥
(ऋ. ७/३३/११)

'अप्सरसः परिजज्ञे वसिष्ठः । (ऋ. ७/३३/१२)

इन मन्त्रों से आदि ब्रह्मा के जन्मस्थान पुष्कर में देवसम्बन्धी ब्रह्म से सम्पन्न, उर्वशी में पतित मित्र और वरुण दोनों के वीर्य की बिन्दु से उत्पन्न पुरुष को सभी देवताओं ने वसिष्ठ रूप से स्वीकार किया, यह सिद्ध होता है ।

वृहद्देवता में शौनक ने यही बात कही है । जैसे—

तयोरादित्ययोः सत्रे दृष्ट्वाप्सरसमुर्वशीम् ।
रेतश्चस्कन्द् तत् कुम्भे न्यपतद्वासतीवरे ।।१।।

तेनैव तु मुहूर्तेन वीर्यवन्तौ तपस्विनौ ।
अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च तत्रर्षी संबभूवतुः ।।२।।

बहुधा पतितं रेतः कलशे च जले स्थले ।
स्थले वसिष्ठस्तु संभूत ऋषिसत्तमः ।।३।।

कुम्भे त्वगस्त्यः संभूतो जले मत्स्यो महाद्युतिः ।
उदियाय ततोऽगस्त्यः शम्याकारो महातपाः ।।४।।

मानेन संमितो यस्मात्तस्मान् मान्य इहोच्यते ।
यद्वा कुम्भादृषिर्जातः कुम्भेनापि हि मीयते ।।५।।

कुम्भ इत्यभिधानं च परिमाणं च लक्ष्यते ।
ततोऽप्सु गृह्यमाणासु वसिष्ठः पुष्करे स्थितः ।
सर्वतः पुष्करे तं हि विश्वेदेवा अधारयन् ।।६।। इति ।

किन्तु आदित्यसत्र में समागत मित्र और वरुण देवता के उर्वशी को देखकर कामासक्त होने के कारण उनके वीर्य का वासतीवर नामक कुम्भ में गिर जाने से वसिष्ठादि ऋषियों की उत्पत्ति तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती । और ऐसी असंभव बातों के निरूपण के कारण पुराणों में अश्रद्धा उत्पन्न होती है । किन्तु इस उपाख्यान के वैज्ञानिक रहस्य को जान लेने के बाद इस अश्रद्धा का परिहार हो जाता है । अतः इसके वैज्ञानिक रहस्य का स्पष्टीकरण किया जा रहा है । किन्तु इससे पूर्व ऋषिशब्द के चतुर्विध प्रवृत्तिनिमित्तों का निरूपण करना आवश्यक है । अतः संक्षेप से उनका प्रतिपादन किया जा रहा है । ऋषिशब्द की प्रवृत्ति के चार कारण हैं । अर्थात् ऋषिशब्द चार अर्थों में प्रयुक्त होता है । मौलिक प्राणों में, आकाशस्थ

ताराओं में, उन प्राणों के द्रष्टा तथा मन्त्रों के निर्माता विद्वान् मनुष्यों में तथा मन्त्रों के वक्ता पुरुषों में।

असल्लक्षण प्राणों तथा अन्य प्राणों के लिए वेद में ऋषिशब्द प्रयुक्त हुआ है। जैसे—

'असद्वा इदमग्र आसीत्। किं तदसदासीदिति। ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्। के ते ऋषयः इति, प्राणा वा ऋषयः' इस शतपथश्रुति में मौलिक असत् प्राणों को ऋषि कहा है। इसी प्रकार—

'साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद् यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥
(ऋ. १/१६४/१५)

इस मन्त्र में अग्नि, वायु आदि देवताओं से उत्पन्न दो श्रोत्र, दो चक्षु, दो घ्राण तथा एक वाक् इन सात शीर्षण्य प्राणों को ऋषि कहा है। इस प्रकार प्राण भी ऋषिशब्द का अर्थ है।

इसी प्रकार 'सप्तर्षीनु ह स्म वै पुरर्क्षा इत्याचक्षते। अमी ह्युत्तरा हि सप्तर्षय उद्यन्ति' इति। इत्यादि श्रुतियों में, उत्तरदिशा में आकाश में ध्रुवतारा के पास दीखने वाले मरीचि आदि स्थूल ताराओं के लिये ऋषिशब्द का प्रयोग हुआ है, जिन्हें सप्तर्षि कहा जाता है।

उपर्युक्त प्राणलक्षण तथा तारालक्षण ऋषियों का दिव्य दृष्टि से अर्थात् आर्ष चक्षु से साक्षात्कार करने वाले व मन्त्रों का निर्माण करने वाले अनूचान विद्वान् मनुष्यों के लिये भी ऋषिशब्द का प्रयोग हुआ है।

जैसे—'यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिणः अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण।
तां देवीं वाचं हविषा यजामहे सा नो दधातु सुकृतस्य लोके।'
इति।

'मा मामृषयो मन्त्रकृतो मन्त्रविदः प्रादुर्देवीं वाचम्॥' इति।
यो वै ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिः (शत. ब्रा.)

'साक्षात्कृतधर्माणो हि ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः (नि. १ अध्याय) इति।

इसके अतिरिक्त 'यस्य वाक्यं स ऋषिः' इस निरुक्तस्मृति के अनुसार मन्त्र या सूक्त का जो वक्ता होता है उसे भी ऋषि कहते हैं।

यह वाक्यसापेक्ष मान्त्रवर्णिक ऋषि कहलाता है। इन चार प्रकार के ऋषियों के प्रातिस्विक परस्पर विभिन्न धर्म हैं। किन्तु नाम की समानता के कारण एक के धर्मका दूसरे में आरोप कर अन्य के धर्म का अन्य में उल्लेख कर दिया गया है। जैसे अनेकवर्षसहस्रजीवित्व धर्म प्राणलक्षण ऋषियों में बनता है। किन्तु इन प्राणों का साक्षात्कार करने वाले शतायु मनुष्य ऋषियों में यह धर्म नहीं हैं। इसी प्रकार वसिष्ठादि प्राणलक्षण तथा तारालक्षण ऋषियों में ही मैत्रावरुणित्व व उर्वशी जन्यत्व धर्म हैं। उन प्राणों के द्रष्टा मनुष्यरूप ऋषियों में नहीं। इसीलिए मानव ऋषि वसिष्ठ उपर्युक्त ऋग्वेद के मन्त्रों में प्राणलक्षण व तारालक्षण वसिष्ठ को संबोधित कर उसे मैत्रावरुणि तथा उर्वशी से उत्पन्न बतला रहा है। तारारूप व प्राणरूप वसिष्ठ का साक्षात्कार करने वाला मानव वसिष्ठ स्वयं को संबोधित कर अपने-आपको मैत्रावरुणि तथा उर्वशीजन्य कैसे बतला सकता था।

उपर्युक्त रीति से मैत्रावरुणित्व व उर्वशीजन्यत्व धर्म वस्तुतः प्राणरूप तथा तारारूप वसिष्ठ में ही उपपन्न होता है। अब केवल यह बतलाना है कि प्राणरूप वसिष्ठादि में मैत्रावरुणित्व व उर्वशी-जन्यत्व कैसे उपपन्न हो सकता है। इसके लिए वैदिक विज्ञान की ही शरण लेनी पड़ेगी।

वैदिक विज्ञान के अनुसार भौमस्वर्गवासी देवताओं के नाम ही मित्र और वरुण नहीं हैं। किन्तु ३६० अंशों का जो खगोलवृत्त है। उसके मध्य में याम्योत्तर (दक्षिणोत्तर) रेखा खींचने पर खगोल दो भागों में विभक्त हो जाता है। वे दो भाग हैं पूर्वकपाल व पश्चिमकपाल। उनमें पूर्वकपाल की संज्ञा मित्र है क्योंकि खगोल के पूर्वकपाल में सौर प्राण प्राणियों से स्नेह करता है, उनमें आता है तथा पश्चिमकपाल में जब सूर्य आता है तब सौर प्राण का ह्रास होता है तथा उसका प्राणियों से वियोग होता है। अतः पूर्वकपालस्थ आदित्य प्राणियों के साथ संस्रवशील होने से मित्र कहलाता है। तथा पश्चिमकपालस्थ आदित्य विशरणशील होने से वरुण कहलाता है। खगोल के दोनों कपालों की विभाजिका खगोलमध्य में वर्तमान याम्योत्तर रेखा ही उर्वशी है क्योंकि वह मध्यरेखा होने से सबसे बड़ी रेखा है। इसलिये उरु-विशालं प्रदेशम् अश्नुते-व्याप्नोति, इस व्युत्पत्ति से विशाल अन्तरिक्ष प्रदेश को व्याप्त करने के कारण उर्वशी कहलाती है। वह अन्तरिक्षस्थ जल में सरण (गमन) के कारण 'अप्सु सरति' इस व्युत्पत्ति से अप्सरा

कहलाती है। इसी मध्यरेखारूप उर्वशी में पूर्वकपालरूप मित्र तथा पश्चिमकपालरूप वरुण दोनों के रस का सम्बन्ध होता है। यही मित्र और वरुण के द्वारा वीर्य का सेचन है। इस विशाल अन्तरिक्ष में दिक्सोम व्याप्त है। इस अन्तरिक्ष में दिक्सोम के व्याप्त होने से इसे सोमकुम्भ कहा जाता है। इस अन्तरिक्ष के उत्तरभाग में मित्र और वरुण के रस का मध्यरेखारूप उर्वशी में सेचन होने से शीतवीर्य-प्रधान वसिष्ठ प्राण उत्पन्न होता है। दक्षिण भाग में उष्णवीर्यप्रधान अगस्त्य प्राण उत्पन्न होता है और मध्य में शीतवीर्य तथा उष्णवीर्य दोनों का संमिश्रण होने से अनुष्णाशीतवीर्यप्रधान मत्स्य प्राण उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अन्तरिक्ष के उत्तरभाग में शीतवीर्यप्रधान वसिष्ठतारा रहता है। दक्षिण में उष्णवीर्यप्रधान अगस्त्य का तारा रहता है और मध्य में मत्स्य। इस प्रकार प्राणरूप व तारारूप वसिष्ठादि ऋषियों में मैत्रावरुणित्व व उर्वशीजन्यत्व धर्म की उपपत्ति है न कि मनुष्यरूप वसिष्ठादि में। किन्तु पुराणों में नामसाम्य के कारण प्राणरूप व तारारूप के मैत्रावरुणित्वादि धर्मों का मनुष्य वसिष्ठादि में आरोप होने से साङ्कर्य के कारण मनुष्यरूप वसिष्ठादि को भी मैत्रावरुणि व उर्वशीजन्य बतला दिया गया है। इति शम्।